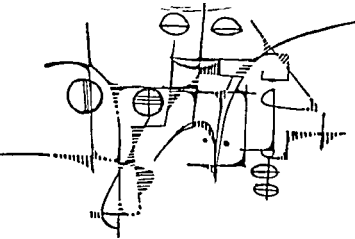


ॐ ... रा प्रकाशन
... , मुनिर्वसिटी रोड, इलाहाबाद-२

और अन्त में



हरिदांकर परसाई

❶ हरिशंकर परसाई

प्रथम संस्करण

दिसम्बर १९६८

प्रकाशक :

अभिव्यक्ति प्रकाशन

८४७, युनिवर्सिटी रोड

इलाहाबाद-२

मुद्रक :

सुपरफ़ाइन प्रिंटर्स,

१-सी० बाई का बाग,

इलाहाबाद

आवरण :

शिवगोविन्द पाण्डेय

मूल्य :

चार रुपया पचास पैसा

और

अन

मं

सन्दर्भ

'कल्पना' के सम्पादक मेरे बन्धु बदरीविशाल पित्ती ने लिखा था कि मैं उनकी पत्रिका में नियमित व्यंग स्तम्भ लिखूँ। कुछ असामान्य लगा। साहित्यिक पत्रिकाएँ ब्राह्मण होती हैं, व्यंग शूद्र वर्ण का माना गया है। उसने कभी ब्राह्मण को नहीं छुआ। साहित्यिक पत्रिकाओं को उठा कर देख लीजिये। मुझे लगा बदरीविशाल भ्रष्टोद्धार के काम में जुट गये हैं। या शूद्र का रुतबा बढ गया है। जो भी हो, मुझे खुशी है कि पिछले १० सालों में यह स्थिति भा गई है कि भाष्यात्म और धर्म को पत्र पत्रिकाओं में भी कुछ व्यंग आने लगा है। पत्र पत्रिकाओं में व्यंग का स्तम्भ अनिवार्य सा हो गया है। इस शुभ स्थिति को लाने में 'कल्पना' का योग-दान मानना पड़ेगा। जो न मानेगा, उसे ठीक कर दिया जायगा।

'और अंत में' शीर्षक के मोचे मैंने ये पत्र सम्पादक को लिखे थे। इनमें मुख्यतः साहित्यिक और साधारणतः सामाजिक राजनैतिक क्षेत्रों की गतिविधियों पर व्यंग है। फैलाव इनमें काफी है।

सम्पादक के नाम पत्र के रूप में व्यंग नई बात नहीं है। हमारे पुरखे द्विवेदी युग में यह कर गये हैं। वे हम लोगों से कम भी डरते थे।

और अंत में—भाशा है यह व्यंग संग्रह मुधी जनों को सदाचारी बनायेगा, उनका हाथमा ठीक करेगा और उनके दिमाग को तरावट देगा।

हरिशंकर परसाई

प्रिय भाई,

आपका पत्र मिला । आपने चाहा है कि मैं 'कल्पना' में प्रतिमास, नियमित रूप से ब्यंग्य स्तम्भ लिखू । यह प्रस्ताव मुझे मंजूर है; पर धैर्य भी कुछ शर्तें हैं ।

१. 'नियमित' का अर्थ मेरे लिए, 'जब मन चाहे तब लिखना' है । प्रंग्रेजी में इस स्थिति को 'मूड' कहते हैं पर मैं इस शब्द का प्रयोग नहीं कर रहा, क्योंकि आप 'प्रंग्रेजी हटाओ' आंदोलन चला रहे हैं । बात यों है कि भास-बास ऐसी भीषण घटनाएँ हो जाती हैं कि मन-स्थिति बिगड़ जाती है—मसलन, मेरे घर के सामने के नीम की पत्तियाँ झड़ गयी हैं और मेरा मन बेहद उदास हो गया है । शहर में धोर दंगा भी हुआ है और मैं तनिक विचलित नहीं हुआ । पर इस नंगे, धपन्न नीम को देख कर मेरा मन रोता है । जब तक इसमें कोपलें न आ जाएँ, मैं एक शब्द नहीं लिख सकता । इधर लोग दंगे से परेशान हैं, पीड़ितों के लिए हाथ-हाथ करते हैं, शांति और सद्भाव के लिए प्रयत्न करते हैं । किसी को परवाह नहीं है कि मेरे सामने के नीम के पत्ते झड़ गये हैं । क्या किया जाए ? 'मूल्यों का विघटन' जो हो रहा है ।

२. ग्राम पत्रिकाएँ 'पत्रं पुष्पं' देती हैं । मैं 'पत्रं पुष्पं' बहुत पा चुका । अब 'फलं तोयं' लूँगा । फल खा कर पानी पीना चाहता हूँ । फूल सूँघ कर पत्ते कानों में बहुत सोंस चुका ।

३. जितना पारिवर्त्मिक आपने प्रस्तावित किया है, उतने से काम नहीं चलेगा, क्योंकि आप देख ही रहे हैं, 'मूल्यों का विघटन' हो रहा है । मैं उससे डेवड़ा लूँगा और यह रकम मेरे आपके बीच एक रहस्य रहेगी । अपने शत्रुओं को मैं दुगुनी बताऊँगा और आपके शत्रुओं को धापी, जिससे

मेरे शत्रु जलेंगे और आपके शत्रु प्रसन्न होंगे। मेरे इस प्रचार का खंडन करने का अधिकार आपको नहीं होगा।

४. पारिश्रमिक आपको कम से कम एक वर्ष बाद भेजना होगा, जब मैं १५-२० तगादे के कार्ड लिख चुकूँ। यदि उससे पहले आप भेज देंगे तो मैं स्वीकार नहीं करूँगा, क्योंकि तब मुझे वह रकम चोरी की लगेंगी और आपको लगेंगी कि आप लूट लिये गये। मेरे हर तगादे पर आपको यह उपदेश देने का हक होगा कि साहित्य-रचना, अंततः तपस्या ही है और लेखक को परचून की दूकान खोल कर पेट भरते हुए, अपनी रचनाएँ प्रकाशक को बिना मूल्य देना चाहिए। प्रकाशक अगर सामने यह कहे, तो ऐसा अच्छा लगता है कि उसका मुँह चूम लेने का जो चाहता है। मेरा खयाल है कि लेखक-प्रकाशक में ऐसा सुलभा हुआ समझौता हो जाना चाहिए, क्योंकि, आप देख ही रहे हैं, 'मूल्यों का विघटन' बड़ी तेजी से हो रहा है।

५. साहित्य-रचना के सम्बन्ध में मैं कुछ मर्यादाएँ मानता हूँ, जैसे यही कि विद्या, साहित्य, कला का अधिकारी केवल ब्राह्मण है। जिन विप्र-गुरु के चरणों में बैठ कर मैंने विद्या पायी है, वे पहले विद्यापति ठाकुर को कवि ही नहीं मानते थे, क्योंकि 'ठाकुर' से उन्हें कवि ब्राह्मण होने का भ्रम हो गया था। फिर, जब उन्हें बताया गया कि मैथिल ब्राह्मणों में 'ठाकुर' उपनाम होता है, तब उन्होंने विद्यापति को महान् कवि घोषित किया। ऐसे निष्ठवान हैं मेरे गुरु! और आज ऐसी निष्ठा विशेष आवश्यक है, क्योंकि, आप देख ही रहे हैं, 'मूल्यों का विघटन' हो रहा है।

६. इस पत्र के साथ मैं आपको अपने शत्रुओं और मित्रों की दो 'लिस्टें' (ओफ़ ! शातं पापं) नामावलियाँ भेज रहा हूँ। अपने स्तम्भ में शत्रुओं को उखाड़ूँगा और आपका कर्तव्य होगा, जड़ों में मठा डालना। मित्रों को मैं जमाऊँगा, और आप जड़ों में खाद देंगे। आप भी इसी तरह अपने शत्रुओं-मित्रों की नामावलि भेज सकते हैं। मैं अपना कर्तव्य निभा रहा हूँ। हमें इसी पद्धति से काम करना चाहिए, क्योंकि आप देख

हो रहे हैं, 'मूल्यों का विघटन' हो रहा है ।

७. मैं अपने को निर्दल घोषित करता हूँ, और जहाँ तक जानता हूँ, आप भी अपने को यही बताते हैं । भाइए, हम मिल कर एक नया दल बना लें—'निर्दलीय दल' ! आप और मैं मिल कर प्रयत्न करेंगे, तो शीघ्र ही अपना दल बड़ा और शक्तिशाली हो जाएगा । हिन्दी साहित्य के कल्याण के लिए दल बनाना आवश्यक है, क्योंकि, आप देख ही रहे हैं, 'मूल्यों का विघटन' हो रहा है ।

८. अपने दल को बढ़ाने के लिए हमें कुछ अपने नये लेखक भी बनाने चाहिए । मेरे ७, १० और १३ वर्षों के तीन भानजे हैं । मैं इनकी रचनाएँ मेज़ूंगा और आप छापने को वाध्य होंगे । ३-४ रचनाओं के बाद, मैं अपने स्तम्भ में, इन्हें हिन्दी के इस दशक की सबसे प्रधान 'उपलब्धि' सिद्ध कर दूँगा । जो नहीं मानेगा, उसे मैं देख लूँगा—मेरे हाथ में स्तम्भ जो है । आप अपने घर के बच्चों के लिए भी ऐसे ही प्रयत्न करें । इस समय अपने घर के जितने लेखक हो जाएँ, उतना ही अच्छा होगा, क्योंकि आप देख ही रहे हैं, 'मूल्यों का विघटन' हो रहा है ।

९. स्तम्भ शुरू करते ही मैं यह प्रचार करने लगूँगा कि अब तो 'कल्पना' पर मेरा कब्ज़ा हो गया । आप मेरे इस दावे का खंडन नहीं कर सकेंगे । जिसे दल चलाना है, उसका कब्ज़ा किसी पत्रिका पर होना ही चाहिए, क्योंकि, आप देख ही रहे हैं, 'मूल्यों का विघटन' बढ़ी तेज़ी से हो रहा है ।

१०. मैं योजना-बद्ध साहित्य-व्यापार करता हूँ । मेरा भी एक संगठन है, जिसमें ५०-६० मित्र हैं । आप इन्हें 'पाठक' कह सकते हैं । मैंने इन्हें पेशगी ढाक खर्च दे रखा है और—मेरी रचना कहीं छपते ही ये सम्पादक को प्रशंसा का पत्र लिख देते हैं । ये आपको भी मेरे स्तम्भ के विषय में लिखेंगे और आपको इन पत्रों को छापना होगा । इन पत्रों के लिए जो ढाक खर्च लगेगा, उसमें से आपा आपको देना होगा । इस

प्रकार के पाठकों की आज बहुत आवश्यकता है, क्योंकि आप देख ही रहे हैं, 'मूल्यों का विघटन' हो रहा है।

११. जब स्तम्भ शुरू हुआ है, तो वह किसी दिन वन्द भी होगा। तब मैं आपकी वदनामी करूँगा और आप मेरी करेंगे। सही कारण बताने का अधिकार न मुझे होगा, न आपको। आप यह कह सकेंगे कि मैं स्तम्भ में व्यक्तिगत राग-द्वेष में जाता था और मैं यह कहूँगा कि आपके पत्र की नीति ही दुलमुल है। आज सत्य कारण नहीं बताया जा सकता, क्योंकि, आप देख ही रहे हैं, 'मूल्यों का विघटन' हो रहा है।

आप इन शर्तों पर विचार कर लें और यदि आपको ये स्वीकार्य हों, तो इस पत्र को ही पहली क्रिस्त मान कर आगामी अंक में छाप दें। मेरे नीम में कौपल आ जाएँगे, तब मैं आगामी क्रिस्त लिख भेजूँगा।

आशा है प्रसन्न हैं।

पारिश्रमिकाभिलाषी

ह० शं० प०

दो

प्रियवर,

पिछले अंक के लिए मैं आपको स्तम्भ नहीं भेज सका और आपने सम्पादकीय चातुर्य से दुनिया को यह बता दिया कि मेरे नीम में कौपल नहीं आयीं। सच यह है कि कौपले तो आ गयी थीं; पर लेखक की और मजबूरियाँ भी होती हैं। मैंने स्तम्भ लिख लिया था, लिफाफे में बंद करके जीभ से गोंद-दानी का काम भी ले चुका था और डाक में छोड़ने जा ही रहा था कि अचानक आसमान में घटाएँ छा गयीं। मैं वहीं बैठ गया। 'मन मत्त मयूर' होकर अनुप्रास साधने लगा। मैं जानता हूँ कि यह छायावादी संस्कार है और नये लेखक के नाते मुझे घटाएँ नहीं देखनी

चाहिए थी, बल्कि किसी के बगोचे में जाकर 'केकटस' को सहलाना था। पर मैं उस क्षण छायावादी संस्कारों से आक्रांत था। एक छायावादी कवि के साथ ३-४ महीने रहने का अपराध मैंने किया था। जब घटा उमड़तो, तो वे वही डेर हो कर बैठ जाते और आत्म-विमोर हो पृथ्वे, 'भाई, क्या तुम मुझे बता सकते हो कि बादलों में से वह कौन आभास्य भाँकता है?' मैं कहता, 'कोई नहीं है; बिजली चमक रही है।' वे कहते, 'नही, बिजली में कौन हँसता है? तारों में कौन झिलमिलाता है?' मैं उत्तर दे नहीं पाता, तो वे मेरी संवेदनहीनता पर तरस खा कर कहते, 'तुम्हारी धाँखें केवल स्थूल देख पाती हैं; मेरी स्थूल के भीतर की सूक्ष्म सत्ता को खोजती हैं। 'बादलों में, नक्षत्रों में, विद्युत् में, फूलों में, फूल-वालियों में कौन है?' हिन्दी कविता के उस 'कुतूहल-युग' में कौन, क्या, कोई, किसी आदि सर्वनामों ने कवियों का बड़ा साथ दिया। यों इन सर्वनामों ने हर युग के कवि को संकट से बचाया है। 'फिर किसी को याद आये!'—इसमें जिसको याद आये है, उसका नामोल्लेख करने से कवि भ्रमट में पड़ सकता है। मान लीजिए, विभा को याद आ रही है। भव भगर कवि लिखे 'फिर विभा को याद आयी!' तो विभा के पिता, भाई या पति बेचारे से मारपीट करने आ पहुँचेंगे। इसलिए अनिश्चय-वाचक सर्वनाम 'किसी' से काम चलाया गया।

हाँ, तो छायावादी संस्कारों से बाध्य हो कर मैं लिफाफा लिये बैठ गया और बादलों की ओर देखने लगा। लेखकों के लिए बादलों से साद्य-पदार्थ किसी दिन बरसेंगे—मुझे विश्वास है। विश्वास का आधार है—एक कवि ने हाल ही में भुवमरो से तंग आ कर आत्म-हत्या कर ली थी, तब हिन्दी की सबसे बयोवृद्ध पत्रिका के बयोवृद्ध सम्पादक ने लिखा था कि कवि ने आत्म-हत्या क्यों कर ली? जीने के कितने आधार हैं—ये उमड़ते-धुमड़ते मेघ, ये झिलमिलाते तारे, यह उफनता सागर, यह हँसती चाँदनी, ये मुसकुराते फूल! सम्पादक, फिर बयोवृद्ध सम्पादक, कभी झूठ नहीं बोलते। मैं आशा से बादलों की देखता रहा। सहसा युग-

परिवर्तन हो गया और मैं नयी कविता के युग में आ गया। अब तो नये 'आयाम' खुल गये। 'अव्यक्त सत्ता' से छूटा, तो 'क्षण की सत्ता' में फँस गया। मैं तुरन्त उस क्षण की गहराई में डूब गया और वह कविता लिख डाली—

मेघ, नाला, मेंढक, बिच्छू और मैं

!

!! — — —

! ! ! —!!!!

....

क ख

ग घ !!

—————

य र ल व

श ष स ह

ज्ञ ञ ज !!!

●
छायावादियों का सहारा अनिश्चयवाचक सर्वनाम था, तो नये कवि का सहारा विस्मयादि बोधक चिह्न हैं—यह रहस्य मैं उसी क्षण समझ गया। कविता पूरी करते ही एक नये कवि, जो नयी कविता के व्याख्याकार भी हैं, आ पहुँचे। रचना देख कर बोले, 'वाह, तुमने क्षण को उसकी पूरी गहराई, गरिमा और सम्पूर्णता के साथ अभिव्यक्त किया है। मैं कहता हूँ, तुम कहानी-निबन्ध का पचड़ा छोड़ो। कविता लिखो। तुम्हें क्षण की अच्छी पकड़ है।'

वस भाई, उस क्षण की सत्ता के प्रभाव में आ कर मैंने लिफाफा फाड़ डाला। मैं उस क्षण भूल गया कि पिछले क्षण मैंने ही वह स्तम्भ लिखा है और अगले क्षण उसे डाक में छोड़ने वाला हूँ। यदि पीछे और

घायें बाने चण को माद रणू घोर यह मानू कि दस्तुत चण पिछले से सम्बद्ध है घोर घायें बाने चण से उगवा कारण बन कर जड़ेगा, तो सच्चा 'चणवादी' हो ही नहीं सकता। मुझे हर चण को धनग परखना है। यह बड़ा कठिन है एकदम हठयोग है। भूत भूटों में भर कर तो उठावो जा सकते हैं, पर बाँटें अगर रण्णा से कर एक-एक वण को बाँधने लगे, तो वण तो नहीं बँधेगा रण्णों में गाँठें घनबत्ता पट जाएँगी। जँगा वण, बँगा चण। मैं एक-एक चण को घेतना की रण्णों में बाँधने का प्रयत्न कर रहा हूँ घोर धर्मों तक चित्तनी हो गाँठों का घनी हो गया है। अब क्या बचे ? अब हो रास्ता है—इन गाँठों को प्यार करने लगूँ, इनकी जय बोलूँ घोर इन्हे गौरव में सजाऊँ।

मैंने कहा न, चण की माधना हठ-योग है। मात्र एक चण को घमावधानी में मेरी उँगली में पिन चुभ गयी। ज्यों ही रक्त निक्कला, मैं पिछने चण से टूट गया घोर भूल गया कि पिन चुभी है। चित्ला उठा कि सीप ने काट गायी ! मंयोग से गाम ही बैठे एक मित्र ने स्थिति संभाल ली, करता पागत ममन्त्र लिया जाता।

चणवादियों को यदि किसी देवता की आवश्यकता हुई, तो मैं पतंगे की कुल-देवता बनाने का सुझाव दूँगा। पतंगा हर चण को धनग-धनग जोता है। इन चण दीपक में झुलमता है घोर घगले चण भूल जाता है कि यह लो है, जिनसे घनी जला है। वह फिर लो से टकराता है। वह पूर्ण चणवादी है। हर चण उगी चण की गहराई में डूबा रहता है।

वणु, चण-माधना के लान मुझे दिखने लगे हैं। मुझ जैसे गैर-जिम्मेदार पादमी को गैरजिम्मेदारी को एक दर्शन मिल गया है घोर जिस कमजोरी से धात्र तक सज्जित होता रहा, उगसे अब गौरवान्वित हो सबूंगा। बाहर समाज में हारने पर घर में चण की आदर थोड़, चैन में सो सबूंगा। पुराने जमाने में पराजित राजा को रनिवास में ही चैन मिलती थी; चण धात्र के हारे थोड़ा का रनिवास ही है। जब युग

सलकारेगा, गाँव करेगा, तब मैं चाणू को सीपो में बन्द हो कर मोती बनाऊँगा। सबसे बड़ा नाम तो यह है कि पीठ पर से इतिहास का बोझ उतरता है और पंचवर्षीय योजनाओं की व्यर्थता समझ में आने लगती है।

मुना है, आप कश्मीर हो आये। तब तो २-४ सौ कहानियों के लिए सामग्री ले आये होंगे। लोग तो एक दिन कश्मीर में रह कर ज़िन्दगी भर कश्मीर की कहानियाँ लिखते हैं।

पत्र लम्बा हो गया। पर इतना वक्तव्य आवश्यक था। इससे मेरे स्तम्भ की 'रचना-प्रक्रिया' समझने में मदद मिलेगी।

चाणू-साधक

ह० शं० प०

तीन

प्रिय बन्धु,

पिछले पत्र में मैंने लिखा था कि किस प्रकार बादल देख कर मैं चाणू की गहराई में डूब गया। जब उबरा तो देखा कि पानी भूमाभूम वरसने लगा है। पहले तो भाई भवानीप्रसाद मिश्र की 'वरसात आ गयी रे।' कविता का पाठ किया। फिर मन एकदम रामचरितमानस के वर्षा-प्रसंग तक उड़ गया। सोचा कि जब लोग वैदिक प्रतीक लेकर आधुनिक काव्य रच लेते हैं, तो क्या मैं गोस्वामी जी का पल्ला पकड़ कर नया वर्षा-वर्णन नहीं कर सकता? अन्तर का स्वर बोला—अवश्य कर सकते हो। वस मैंने 'श्री गुरुचरण सरोज रज निज मन मुकुर सुधार', वर्षा-ऋतु के सौंदर्य का वर्णन ठीक रामचरितमानसीय ढंग पर कर डाला। सो, सुहृद जनों के अवलोकनार्थ यहाँ लिख रहा हूँ—

हे लक्ष्मण, मेघ घमंडी लेखकों की तरह गरज रहे हैं और हाथ में

कोई पत्रिका न होने के कारण मेरा मन डरता है ।

बादल आकाश में आचलिक कथाओं की तरह छा गये हैं और उनमें बिहार के पूर्णिया जिले के नक्शे बन-बिगड़ रहे हैं ।

मैंडक चारों ओर टर्रा रहे हैं जैसे नये कवि रचना-प्रक्रिया पर चर्चा कर रहे हों ।

हे लक्ष्मण, तालाब पानी से लबालब भर गये हैं, मानो बादलों ने इनकी रायलटी का पूरा हिसाब कर दिया हो ।

देखो, बादलों में कभी-कभी बिजली चमक जाती है, जैसे २-४ महीने में किसी पत्रिका में कोई अच्छी कविता दिख जाती है ।

हे लक्ष्मण, जरा सावधानी से चलो । घास में साँप छिपे हैं, जैसे छद्मनाम के पीछे लेखक छिपा रहता है जो दिखता नहीं है, सिर्फ काटता है ।

उधर सुनो । एक मेंडक बड़ी प्रसन्नता से खूब जोर से टर्रा रहा है जैसे किसी लेखक की पुस्तक माध्यमिक कक्षाओं के पाठ्य-क्रम में आ गयी हो ।

पच्ची घोंसलों से सिर निकाल कर बार-बार झाँक रहे हैं जैसे बड़े लेखक लिखना छोड़, उत्सुकता से प्रतिनिधि मंडलों में विदेश जाने का मौका ताक रहे हों ।

हे भाई, यह पच्ची वृक्ष से उड़ कर यहाँ घर की मेहराब में बैठ गया, जैसे परम आचलिक 'रेणु' मौसम खराब देख कर, ग्राम-जीवन से उठ कर शहरी मध्यम वर्ग पर आ गये हैं ।

हे लक्ष्मण, मैं तो यहाँ ही रह रहा हूँ । ऐसा लगता है कि मैं यहाँ पर लेख लिख कर,

कांचा से कितना प्रसन्न है, जैसे कोई लेखक एक विध्वंसक लेख लिख कर साहित्यिक नेता बनने के मनसूबे बाँधे ।

हे लक्ष्मण, इस सूखे वृक्ष में एक फुनगी फूट आयी है, जैसे किसी चुके हुए सयाने लेखक को 'पद्म-भूषण' की उपाधि मिल गयी हो ।

भाई, इस नाले को देखो । थोड़े से पानी से यह इस क्रंदर फूल गया है मानो इसे आकाशवाणी का कोई कार्यक्रम मिल गया है और यह बड़ी फुर्ती से आकाशवाणी केन्द्र जा रहा है ।

हे लक्ष्मण, यह पगडंडी घास में उसी तरह छिप गयी है, जिस तरह रहस्यवादी भाषा में कथा-साहित्य की समीक्षा छिपी जा रही है ।

हे भाई, यह मयूर कलगी साध कर कैसे हर्ष से नृत्य कर रहा है मानो लेखक किसी पुस्तक पर सरकारी पुरस्कार पा गया हो ।

हे लक्ष्मण, इस बड़े वृक्ष पर बैठे पक्षी चहचहा रहे हैं, जैसे भक्त-मंडली हिन्दी के आचार्य के गुणगान कर रही है । और वृक्ष झूम रहा है जैसे आचार्य प्रशंसा से झूम उठते हैं ।

हे भाई, सूखे खलवाट पर्वत पर भी कुछ हरियाली छा गयी है जैसे किसी भूतपूर्व लेखक ने अनायास संस्मरण की पुस्तक छपा ली हो ।

हे लक्ष्मण, इस नीलकण्ठ को देखो । इसे देख कर मुझे वैसे ही प्रसन्नता होती है, जैसी राजधानी के लेखकों को प्रसार-मंत्री के दर्शन से होती है ।

हे भाई, इन बछड़ों को देखो । वर्षा के आघात से घबड़ा कर ये इस पुराने मकान को छाया में सहमे खड़े हैं, जैसे सम्पादकों द्वारा दुरदुराया गया उदीयमान किसी मठाधीश का सहारा लेता है ।

हे लक्ष्मण, यह सूखा कुआँ भर गया है जैसे लेखक सहसा प्रकाशक हो गया हो ।

हे भाई, ये पतंगे दीपक के आस-पास ऐसे मँडरा रहे हैं, जैसे शोध-छात्र विश्वविद्यालय के आचार्य के आसपास मँडराते हैं । और आचार्य जो स्वतंत्र प्रतिभा के पंख जला रहे हैं ।

हे लक्ष्मण, तुम उस छाते को ले कर बाहर मत निकलो। उसमें बड़े-बड़े छेद हैं। तुम्हारी हालत उस लेखक जैसी हो जाएगी, जो कमजोर समीक्षक की धाया तले चलता है। हे भाई, यह छाता तुम्हें धोखा दे जाएगा। तेज हवा से यह उलट जाएगा और तुम उस लेखक की तरह संकट में पड़ जाओगे, जिसका समीक्षक उसे प्रचेषित करके, हट जाता है।

बन्धु, वर्षा-वर्षान यही समाप्त होता है। इसमें विम्ब-प्रतीक सब नये हैं, शब्द की चाहे न हो, पर अर्थ की लय तो है ही; आधुनिक भाव-बोध भी है। कोशिश करके इसे 'नयी कविता' में शामिल करवा देना। यदि इस व्यंग्य-खंड को स्वीकार किया गया, तो मैं प्रोत्साहित होकर धीरे सप्तक तक २५-३० कविताएँ लिख ही डालूंगा। शेष भविष्य के गर्भ में है।

आशा है, आप सब सानंद हैं।

सस्नेह,

ह० शं० प०

चार

प्रिय बन्धु,

द्वार में एक आचलिक उपन्यास के लिए सामग्री जुटा रहा हूँ। आप जानते हैं कि मुझे यँ ही काफी देर हो गयी है। देखते-देखते एक के बाद एक अंचल उठते गये। 'रेणु' ने पूछिया जिला उठाया और फिर गढ़वाल उठा, काश्मीर गया, समुद्री अंचल उठा, बस्तर भी हाल ही में उठ गया। मेरे पड़ोसी बुदेलखंड को, भूत-वर्तमान-भविष्य समेत बाबू बृन्दावनलाल वर्मा ने ले लिया है। सुना है, कोई भाई मालवा पर भी कब्जा कर रहा है। अंचल उठते गये और मैं बैठा-बैठा देखता रहा जैसे अच्छी लड़कियाँ उठती जाएँ और दुवेजों वगैरे बैठे रहें। तमाम अंचलों पर लेखकों के

कब्जे हो गये; एक जागीरदारो खतम हुई तो साहित्यिक जागीरदारी जम गयी। अब कोई अंचल बचा नहीं। अगर किसी लेखक के अंचल पर मैं लिख डालूं और वह मुकदमा दायर कर दे तो ? मैं एक दिन इसी चिंता में मशगूल था कि अब हिन्दी कथा-साहित्य का क्या होगा ? इससे भी अहम सवाल है—मेरा क्या होगा ?

मेरा एक मित्र आया। मैंने कहा, मित्र, अब तो कोई अंचल खाली नहीं है। हिन्दी माता की गोद काहे से भरी जाएगी ? माँ भारती का क्या भविष्य होगा ? उसने कहा, 'पहले तुम आँसू पोंछो, फिर जरा स्पष्ट बात करो। हिन्दी माता पर ऐसा क्या संकट आ गया ? मुख्य मंत्रियों ने राष्ट्रीय एकता के हल्ले में अंग्रेजों को अनंत काल तक चलाने का निश्चय कर लिया है। अब हिन्दी उसी तरह निश्चित रह सकती है जिस तरह अंग्रेजों की छत्र-छाया में देशी रजवाड़े रहते थे।' मैंने कहा, 'दोस्त, तुम समझे नहीं। मेरा मतलब है कि कथा-साहित्य में गतिरोध आ गया।' इस पर वह हँस पड़ा। कहने लगा, 'तुम किस मुँह से गतिरोध का नारा लगाते हो ? यह वही कह सकता है जो स्वयं रास्ते पर रोड़ा बन कर अड़ गया है। क्या तुमने ऐसे लेख कहीं पढ़े—

हिन्दी कविता में गतिरोध

—पं० विद्यानंदन पांडे

अर्थात् पं० विद्यानंदन पांडे हिन्दी कविता में गतिरोध हैं। तुम तो किसी के रास्ते में नहीं हो। तुम क्यों हल्ला मचाते हो ?'

मैंने कहा, 'मुझे मेरी चिंता है। आंचलिकता का भूत भागा जा रहा है और मैं चाहता हूँ कि उसकी लंगोटी छीन लूँ। पर कोई अंचल मेरे लिए खाली नहीं है।'

वह बोला, 'तुम फ़िजी द्वीप के निवासियों के जीवन पर लिखो। वह भी एक सुदूर अंचल है।'

मैंने कहा, 'न मैंने फ़िजी देखा, न वहाँ के निवासी देखे और न उनके जीवन का अध्ययन किया।'

मित्र बोला, 'इसकी क्या जरूरत है ? मैं तुम्हें फिजी सरकार के प्रकाशन विभाग की पुस्तिकाएँ दे दूँगा । उनमें तुम्हें निवासियों के नाम, गाँवों के नाम और व्यवहार की चीजों के नाम मिल जाएँगे । कुछ प्रयागों का भी अनुमान हो जाएगा । इतने से तो तुम ऐसा प्रामाणिक उपन्यास लिख सकते हो कि फिजी के लेखक भी चकरा जाए ।'

उसने मुझे पुस्तिकाएँ बाँकर दी । उन्हें पढ़ कर मुझमें बड़ा आत्म-विश्वास जाग उठा । मुझे विश्वास हो गया कि किसी जीवन के मध्य में रहने वाले लेखक से अच्छा उस जीवन के बारे में वह लिख सकता है जो प्रकाशन विभाग की पुस्तिकाएँ पढ़ता है । पर मैं फिजी अंचल पर नहीं लिखूँगा । मुझे यही अपने पास एक खाली अंचल मिल गया है । मैं एक मुहल्ले पर आचलिक उपन्यास लिखूँगा ।

मुहल्ले का नाम है—बाबू पुरा; मेरे उपन्यास का नाम होगा—'बाबूपुरा परिकथा ।' नाम पसन्द आया आपको ? बाबूपुरा में अंचल होने के सब गुण मौजूद हैं । अंचल में दूर की घटनाओं की अनुगूँज होती है । बाबूपुरा में भी होती है । शहर के दूसरे छोर पर दंगा हुआ था, पर बाबूपुरा-वासी दिन-रात कोपते रहते थे ।

बन्धु अंचल तो अच्छा हाथ लग गया । भय नायक चाहिए । मेरे सामने गमूने के लिए परम आचलिक रेणु की 'परती परिकथा' है । इसी के अनुसार नायक की व्यवस्था करनी है । पर 'परती परिकथा' का नायक है कौन ? आप कहेंगे—जितन या जितेन्द्र बाबू । मैं नहीं मानता । मैं ४ सालों से इस पर विचार कर रहा हूँ और इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि नायक वह कुत्ता भीत है । इस कुत्ते के चरित्र का लेखक ने अधिक कुशलता से विकास किया है । आरम्भ से अंत तक उसके चरित्र में एक संगति है जो जितन के चरित्र में नहीं है । भीत का व्यक्तित्व उपन्यास में भावोपात व्याप्त है । हर अध्याय में, हर प्रसंग में वह हाज़िर है । किसी-किसी अध्याय का तो आरम्भ ही उसकी बाणी से होता है—भौं-भौं-भौं ! भीत बहुत समझदार और जिम्मेदार है । खेतों में ट्रैक्टर

चलवाते समय किसानों का एक दल जित्तन का विरोध करने आता है। उस क्षण मीत की कर्त्तव्य-भावना जाग्रत होती है। वह जानता है कि नायक वह है जित्तन नहीं है; और इस समस्या को हल करना उसकी जिम्मेदारी है। वह जित्तन को बोलने भी नहीं देता और खुद किसानों पर टूट पड़ता है। वह वीर है, कर्त्तव्यनिष्ठ है। और वह शहीद की मीत मरता है जो नायक होने के लिए बहुत जरूरी है। यदि मुझे 'परती परिकथा' जैसा उपन्यास लिखना है, तो किसी पशु को नायक बनाना पड़ेगा। इस मुहल्ले में एक अच्छा बकरा था, जो घरों में घुस कर अनाज खा जाता था। पर पिछले महीने ही बीमारी से मर गया। मैंने उसे जाँच कर रखा था। यदि वह जीवित रहता तो उसे उपन्यास का नायक बनाता। अभाग मर गया और मुझे उलझन में डाल गया।

जित्तन, नायक मीत का साथी है। आदमी में जितने गुणों की कल्पना की जा सकती है, वे सब उसमें हैं। ऐसे पात्र पुराणों में होते हैं। एक तो वह जमींदार का बेटा है। फिर उसके पिता पर एक मेम न्यौछावर हो गयी थी। जिस पर मेमसाब मुग्ध हो जाएँ, वह महान् पुरुष होता है। जित्तन न जाने कहाँ-कहाँ क्रांति करने के लिए घूमता रहता है और अंत में उदास और निराश हो कर अपने गाँव लौट आता है। रेणु ने प्रसंग निकाल-निकाल कर उसके अलौकिक गुण बतलाये हैं। वह छद्म-नाम से स्त्रियों की पत्रिका में स्तम्भ भी लिखता है। उसके सब काम ऐसे चमत्कारिक हैं जैसे हनुमान के। हनुमान भी कभी छोटे और कभी बड़े हो जाते थे। वे पूँछ को चाहे जितनी लंबी कर सकते थे। ऐसा ही अद्भुत व्यक्ति जित्तन है। भारत के भूतपूर्व नरेश और जमींदार यदि इस प्रकार उपन्यासों में आना स्वीकार कर लें, तो साहित्य का कितना भला हो। जित्तन ही एक ऐसा व्यक्ति है, जो हर वार ठीक है। सब गलती करते हैं, पर वह कभी कोई गलती नहीं करता। वस्तर के भूतपूर्व नरेश प्रवीण-चन्द्र भंजदेव पर उपन्यास लिखा जा सकता था। पर एक तो वस्तर के रेणु के ध्यान में वह आया नहीं; फिर उसने शादी भी कर ली। वावूपुरा

में एक बरखास्तशुदा सरकारी भफसर है। यह घूस के पैसे से ठाठ से रहता है। उसकी स्त्री मर गयी है, बेटा भावारा हो गया है और लडकी भाग गयी है। यह आदमी भी जित्तन की तरह भकेले ही क्रांति करना चाहता है। जब मुहल्ले के लोग इसके साथ हो जाते हैं, तब यह उनसे एकदम दूर हो जाता है और उल्टा काम करने लगता है। इस तरह नायक के साथी या उपनायक की समस्या यह बरखास्त भफसर हल कर देता है।

अब ताजमनो की तरह एक प्रेमिका चाहिए जो जीवन भर पास रह कर भी दूर रहती है। वह 'पवित्र प्रेम' करती है। 'पवित्र प्रेम' अपनी पिछले दरवाजे की नैतिकता की एक विशेषता है। एक स्त्री मेरी नजर में है, पर वह बरखास्त भफसर साहब से अंत तक 'पवित्र प्रेम' कर सकेंगी, इसमें मुझे शक है।

इसके बाद सब आसान है। इस अंचल के कुछ पक्षियों की बोलियाँ इकट्ठी कर रहा हूँ। जब कोई पक्षी बोलता है, मैं उसके स्वर को लिपिबद्ध कर लेता हूँ। अभी तक इतनी बोलियाँ इकट्ठी की हैं—

कौआ—काँव काँव

गौरैया—चिरप-चिरप

मुर्गी—किड़ी-कों को।

इन बोलियों को उपन्यास में जगह-जगह जमा देने से वातावरण बनेगा।

मैं अंचल की स्त्रियों द्वारा गाये जाने वाले लोक-गीत भी चुन रहा हूँ। मुरिकल है कि ये मध्यम-वर्गीय स्त्रियाँ सिनेमा के गीत गाती हैं। मैं लोकप्रिय सिनेमा गीतों की धुनों का पार्श्व-संगीत दूँगा।

आप देखेंगे कि मैंने काफी तैयारी कर ली है। अब मैं यह देख रहा हूँ कि किस राजनैतिक दल का समर्थन मेरे लिए सबसे लाभदायक होगा। रेणु ने जो गलती की है, वह मैं नहीं करूँगा। उन्होंने हर दल के नेता की गलतियाँ बतायी हैं। इसलिए कोई उनसे पूरी तरह खुश नहीं है। कामरेड

मक़बूल तक की भूल बतायी है। फिर भी 'परती परिकथा' कि प्रशंसा प्रगतिवादियों ने सबसे अधिक की है। इतनी उदारता के पात्र रेणु नहीं थे, क्योंकि कामरेड मक़बूल को उन्होंने हर बार ठीक नहीं बताया है। रेणु अपने भाग्य को सराहें कि बीसवीं कांग्रेस हो गयी। मैं सोचता हूँ कि वूढ़ों ने जो सबसे नया दल, स्वतन्त्र दल, बनाया है, उससे कुछ समझीता करूँ। शीघ्र ही मसानी से पत्र-व्यवहार करके उपन्यास की राजनीति तय करता हूँ।

सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि मेरे बरखास्त अफ़सर साहब का उद्देश्य क्या होगा? इस विषय में 'परती परिकथा' से कोई निर्देश नहीं मिलता। जित्तन बाबू नहीं जानते कि वे क्या करना चाहते हैं। जो भी स्थिति सामने आती है, उसमें वे पराक्रम बता कर अलग हो जाते हैं। अंत में वे एक नाटक करते हैं। स्वतन्त्र दल की सलाह से मैं अपने उपनायक को स्वतन्त्र उद्योगनीति का योद्धा बनाऊँगा। इस तरह यह उपन्यास आंच-लिक कथा साहित्य में आगे की कड़ी हो जाएगा।

इस सम्बन्ध में आपके कुछ सुझाव हों, तो तुरन्त मुझे लिख भेजें।

आपका

नव आंचलिक

ह० शं० प०

पाँच

प्रिय भाई,

पिछला पत्र छपने से बड़ी गड़बड़ हुई। शिकायतों का ढेर लग गया। एक 'सजग पाठक' (अर्थात् वह विद्यार्थी जिसके पाठ्य-क्रम में पुस्तक-विशेष हो) ने लिखा है—'मालूम होता है, आपने 'परती परिकथा' बिना पढ़े ही स्तम्भ लिख दिया। पढ़ते तो जानते कि जित्तन का कुत्ता भीत 'वाँख-वाँख' बोलता है, 'भौं भौं' नहीं, जैसा आपने लिखा है। आपके

इधर के कुत्ते भी-भी करते होंगे। पर आपको जानना चाहिए कि हर भंचल का कुत्ता एक-सा नहीं बोलता। आपने किसी अच्छे समीक्षक की तरह पुस्तक पढ़े बिना लिख माया।'।

ऐसी चिट्ठियों को तो मैं सह गया पर मुसीबत चिट्ठी से बाहर भी भायो। मुझे क्या मालूम कि बाबूपुरा के बाबू लोग भी आपकी पत्रिका पढ़ते हैं। उनका एक प्रतिनिधि-मंडल परसो भाया और मुझसे बोला—'मुना है, आप हमारे मुहल्ले पर कोई आचलिक उपन्यास लिख रहे हैं। अगर यह सही है, तो हम आपसे यह मांग करते हैं कि आप यह इरादा त्याग दें।' मैंने उनसे बहस करने की कोशिश की। लोभ दिया कि मैं उनके उपेक्षित मुहल्ले को धमक कर रहा हूँ। भय दिखाया कि इतिहास उन्हें कभी क्षमा नहीं करेगा कि उन्होंने साहित्य की धारा की हठ के बांध से रोका। वे सब तर्क दिये, जो आचलिकता के समर्थकों ने पिछले ५-६ सालों में दिये हैं। उन लेखों के लेखकों को यह जान कर दुःख होगा कि उन तर्कों का कोई असर नहीं हुआ। प्रतिनिधिमंडल ने कहा—'सो सब ठीक है। पर हम आचलिकता के सख्त खिलाफ हैं। या तो आप इरादा छोड़िये या मुहल्ला छोड़िये। अगर आपने हमारे बारे में कुछ लिखा तो आपकी खैर नहीं है।'।

बन्धु, उनके भय से मैं भाग कर भोपाल आ गया हूँ और एक मित्र के घर में छुप कर पत्र लिख रहा हूँ। अब समझ में आ रहा है कि रेणु पूर्णिमा छोड़ प्रयाग और पटना में क्यों रहते हैं; नागार्जुन 'बाबा बटे-सरनाय' छपने के बाद से कलकत्ता, प्रयाग और बम्बई क्यों भागते फिरते हैं, कृष्णचन्द्र बम्बई में बैठ कर कश्मीर की कहानियाँ क्यों लिखते हैं और बस्तर के आचलिक बम्बई में नौकरी क्यों करने लगे हैं। जिसने जिस भंचल पर लिखा वह उस भंचल से उखड़ा।

यहाँ मित्रों ने समझाया कि हर बड़ा लेखक अपने को बचा कर लिखता है। मकानों की बेहद कमी है। अगर बाबूपुरा के लोगो ने तुम्हें भगा दिया, तो कहाँ रहोगे? भारत में हजारों भंचल हैं। नक्शा उठा

कर देख लो। वच्चों की भूगोल की पुस्तक पढ़ कर देखो। कितने ही अंचलवासी रोते हैं कि हाय, हमारे सुन्दर अंचल पर किसी ने उपन्यास नहीं लिखा। तुम इसमें से किसी सुदूर अंचल को चुन लो।

मैंने किसी अच्छे लेखक की तरह मित्रों की सलाह मान ली है। वायू-पुरा पर अब मैं नहीं लिखूंगा, क्योंकि अंचल मिल जाते हैं; मकान नहीं मिलते। मैं किसी सुदूर ग्रामीण अंचल की खोज में हूँ। इसके लिए मैं 'वधू चाहिए' के ढंग पर 'अंचल चाहिए' का विज्ञापन देना चाहता हूँ। विज्ञापन से जब परिणयनिराशों को वर या वधू मिल जाते हैं, तो क्या मुझे महज अंचल न मिलेगा? विज्ञापन नीचे दे रहा हूँ, जिसे निःशुल्क छापें।

अंचल चाहिए

हिन्दी के एक यशःप्रार्थी लेखक को एक ऐसे सुदूर अंचल की आवश्यकता है, जो जबलपुर से २०० मील दूर हो और जहाँ आवागमन के साधन इतने अल्प और दुर्लभ हों कि अंचलवासियों को लेखक तक आने में कम से कम एक महीना लगे और समीक्षक तो उसे देखने कभी न पहुँच सके। ऐसे अंचल के निवासी यदि अपने अंचल पर उपन्यास लिखवाना चाहते हैं, तो अपने यहाँ के कम से कम पाँच पंचों से निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर लिखवा कर भिजवाएँ। वही उत्तर विचार के योग्य होंगे, जिन पर वहाँ के तहसीलदार और थानेदार की सही होगी।

प्रश्न : (१) आपके अंचल की भौगोलिक और प्राकृतिक स्थिति कैसी है ?

अ. जमीन परती है या उपजाऊ ?

आ. नदियों, पहाड़ों और तालाबों के क्या नाम हैं ?

इ. बाढ़ आती है या नहीं ?

ई. फ़सल क्या होती है ?

(नदियों, पहाड़ों और ग्रामों की स्थिति न लिखो जाए। ये कहाँ हैं,

इसे कल्पना से जमा लेने का अधिकार लेखक को होगा)

(२) भावादी कितनी है और किस प्रकार की है ?

प्र. कितने 'टोले' या 'वाडे' हैं और उनमें किन जातियों के कितने लोग रहते हैं ?

भा. ये जातियाँ आपस में अवश्य लड़ती होगी । कुछ घटनाएँ लिखिये ।

(३) यदि आपका क्षेत्र अंचल है, तो वही मालगुजार तो होंगे ही । किसी एक मालगुजार की लड़की के सम्बन्ध में यह विवरण दीजिए—

प्र. अवस्था, वर्ण, फैशन आदि ।

भा. क्या वह किसी से प्यार करती है ?

द. गाँव के डॉक्टर और शिक्षक से उसके कैसे सम्बन्ध हैं ? उसके बारे में और क्या अफवाहें फैली हैं ?

ई. उसे कौन कवि और चित्रकार पसन्द है ?

उ. उसे रवीन्द्र के कौन से गीत पसन्द हैं ?

(४) आपके अंचल में नैतिकता की क्या स्थिति है ? कम से कम पाँच पतिव्रताओं के अनैतिक सम्बन्धों का विवरण दीजिए ।

(५) आपके अंचल में कौन पक्षी तथा पशु पाये जाते हैं ? (पुलिस को छोड़ कर)

प्र. उनकी बोलियों को लिपिबद्ध कीजिए ?

भा. हाथी आपके यहाँ पशु माना जाता है या पक्षी ? उसकी बिपाड़ या बहक की लिपि लिखिए ।

(६) कम से कम १० स्त्री और १० पुरुषों के नाम लिखिए ।

(७) आपके यहाँ निम्नलिखित को क्या कहते हैं—

प्र. डाक्टर—डगदर, डाकघर, या दवाई हाकिम ?

भा. पोस्टमैन—पिट्टीरसा, पुट्टमन, पुट्टम या बारट बासा ?

द. माइक्रोफोन—भोगू, माइओ, मक्कीजों ?

ई. डेवलपमेंट—डेलमेंट, डवलामेंट, डोलमेंट ?

(८) कम से कम पाँच ग्रामगीत लिख करके भेजिए जिनमें एक होली का तथा एक वेटी की विदा का हो ।

(९) आपके अंचल में कौन जानवर विशेष रूप से साथ रखा जाता है ? कुत्ता, बिल्ली, बकरा या साँड ?

(१०) क्या आपके अंचल में ईसाई मिशनरी हैं ? पादरी और आदिवासी नारी तथा आदिवासी पुरुष और पादरी की लड़की के प्रेम के पाँच उदाहरण लिखिए ।

(११) अंचल में प्रचलित गलियों के कम से कम १० नमूने लिखिए ।

(१२) आपके जागीरदार पर निम्नलिखित व्यक्ति क्या अत्याचार करते हैं ?

ग्रामसेवक, शिक्षक, पटवारी, भूदानी, मंडलेश्वर, कम्यूनिस्ट नेता ।

(१३) आप अपने अंचल में उपन्यास की कितनी प्रतियाँ विकवाने का ज़िम्मा लेंगे ?

(१४) क्या आपकी राज्य सरकार पुरस्कार देती है ? और क्या आप लेखक को पुरस्कार दिलवा सकेंगे ?

(१५) क्या आपकी ग्राम-पंचायत लेखक को कुछ भेंट दे कर सम्मानित करेगी ?

विशेष सूचनाएँ : कृपा कर अपने अंचल की समस्याओं के बारे में कुछ न लिखें । कल्पना से आपकी समस्याओं का चित्रण करना लेखक का अधिकार है । लेखक भी १५ वर्षों से शहर में रहता है और सब जानता है ।

सामाजिक सम्बन्धों का चित्रण लेखक अपनी मेधा से करेगा । इस सम्बन्ध में सुझाव सामान्य होंगे ।

चरित्रों का निर्माण लेखक अपने ऊपर से करेगा । उपन्यास का

नायक वह सब करेगा, जो लेखक चाह कर भी नहीं पाया ।

जैसा कि प्रश्न १३ से स्पष्ट है, उसी अंचल पर उपन्यास लिखा जाएगा जो सबसे अधिक प्रतियाँ विकवाएगा । विभिन्न अंचलों से प्राप्त उत्तरों को पाँच प्रकाशकों के सामने खोला जाएगा और सबसे अधिक प्रतियाँ खपाने वाला अंचल प्रकाशकों के बीच नीलाम किया जाएगा । जो प्रकाशक लेखक को सबसे अधिक रुपये देगा, उसी के लिए लेखक उपन्यास लिखेगा । उपन्यास का भाकार प्रकाशक की इच्छानुसार होगा ।

प्रश्नों के उत्तर ३१ अक्तूबर तक 'कल्पना' के पते पर भेजे जाएँ ।



बन्धु, इस विज्ञापन को इसी माह छाप दें, तो मेरा बड़ा उपकार होगा । मैं नवम्बर के दूसरे सप्ताह तक उपन्यास लिख डालना चाहता हूँ ।

भाशा है, सानंद है । 'कल्पना' अच्छी निकल रही है । सभी अच्छा लिख रहे हैं । सब रचनाएँ बढ़िया हैं । सम्पादकीय लेख सर्वश्रेष्ठ हैं ।

शुभाकांक्षी,

ह० शं० प०

पुनरुच (सर्वथा गोपनीय और अछाप्य)

भाई, विज्ञापन जरूर छाप देना । ४०० पृष्ठों का उपन्यास लिखना है । कम से कम १०-१२ पृष्ठों की सामग्री तो दिलवा दो । बाक़ी तो मैं पूरा कर लूँगा ।

ह० शं० प०

छः

प्रिय बन्धु,

इधर मेरी एक-दो किताबें छप रही हैं। किताब में कुछ चीजें जरूरी होती हैं—भूमिका, सम्मति और समर्पण। भूमिका मैंने लिख ली; सम्मति के काफी दूर से हाथ जोड़ लिये; पर समर्पण का लोभ नहीं जीत सका। जब पुस्तक लिखी है, तो किसी न किसी को समर्पित करनी ही चाहिए। असमर्पित पुस्तक का न जाने क्या भविष्य होता है। लोग तो अनुवाद और संकलन तक समर्पित कर देते हैं; मेरी तो मौलिक रचना है। पर समर्पित किसे करूँ और कैसे करूँ ?

इस मामले में निर्देश पाने के लिए मैं पुस्तकों की दुकान पर गया और जब विभिन्न प्रकार के समर्पण देखे तो मेरी आँखें खुल गयीं। हिन्दी में पुस्तकों के समर्पण तो शोध का विषय है। पता नहीं, विश्वविद्यालयों का ध्यान इस तरफ़ क्यों नहीं गया। बन्धु, कोई आचार्य मुझ जैसे दुर्विनीत की बात क्यों मानेंगे। मानते, तो बताता कि 'हिन्दी साहित्य में नारी' जैसे मोटे विषय पर शोध न करवा कर 'पुस्तकों के समर्पण' जैसे बारीक विषय पर कराओ।

मैंने थोड़ी देर ही पुस्तकें देखीं, और मुझे जो सामग्री मिली, उसे : में शोध-छात्रों के हितार्थ इस पत्र में दे रहा हूँ। कृपा करके इसे का तैसा छाप कर हिन्दी शोध-कार्य को आगे बढ़ाने का पुण्य रं।

पुस्तकें दो प्रकार की होती हैं : वे, जो लिखी जाती हैं, और समर्पित की जाती हैं, तथा वे, जो समर्पण के लिए ही लिखी जाती हैं। 'आदर्शवादी' पुस्तकें कही जा सकती हैं और दूसरे । इन समर्पण-प्रधान उपयोगितावादी करने से समस्त जाति की आर्थिक,

नैतिक और सामाजिक स्थिति का इतिहास लिखा जा सकता है। एक उदाहरण से बात स्पष्ट हो जाएगी। एक लेखक ने १९४५ से १९५५ तक की अपनी पुस्तकें 'मानव की दुर्जय शक्ति' जैसी धर्मोत्तम भावनाओं को समर्पित की। १९५६ से उन्होंने किसी राज्य के शिक्षा मंत्री और प्रकाशन मंत्री को समर्पित करना शुरू कर दिया। मित्र, धर्मोत्तम से मूर्त तक की यह यात्रा अपने भीतर जीवन के गम्भीर रहस्य छिपाए हुए है। इस श्रद्धा-परिवर्तन से स्पष्ट होता है कि भारतीय धर्मोत्तम में ये दस वर्ष गिरावट के थे। इस काल में जनता की क्रय-शक्ति इतनी कम हो गयी थी कि वह पुस्तकें नहीं खरीदती थी। लेखकों की आय बहुत गिर गयी। उनमें जो दूरदर्शी और व्यवहार पटु थे, उन्होंने मंत्रियों को पुस्तकें समर्पित कीं, जिसका सुपरिणाम यह हुआ कि पुस्तक की हजारों प्रतियाँ सरकार ने खरीद ली और लेखकों की आर्थिक हालत ठीक हो गयी। इस एक समर्पण से पूरे दशक की राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, नैतिक और आध्यात्मिक दशा का इतिहास लिखा जा सकता है।

सैंकड़ों पुस्तकों के समर्पणों का वर्गीकरण मैंने किया है और मेरे मत में समर्पण इतने प्रकार के होते हैं :

१. जीवन-सुधार समर्पण, २. टालू समर्पण, ३. भौष समर्पण, ४. दोषी-भाषोवादो समर्पण, ५. लक्ष्यहीन समर्पण, ६. मजबूर समर्पण और ७. उच्चका समर्पण।

'जीवन-सुधार समर्पण', जैसा नाम से ही स्पष्ट है, लेखक का जीवन सुधारते हैं। यदि लेखक बेकार हैं, तो नौकरी दिलाते हैं; नौकरी में हैं, तो मुस्तकिल कराते हैं; मुस्तकिल हैं, तो तरक्की दिलाते हैं। यही समर्पण पुस्तकों को पाठ्यक्रम में लगवाते हैं। इन्हीं समर्पणों के प्रताप से सरकार इकट्ठी पुस्तकें खरीदती है। ऐसे समर्पण पाने के अधिकारी मंत्री-गण, उपकुलपति, प्राकाशवाणी के अधिकारी, बड़े नेता आदि होते हैं। एक प्राध्यापक लेखक तरक्की चाहता है। उससे ऊपर दो प्राध्यापक हैं। इन्हें साथ कर उसे आगे बढ़ना है। वह एक पुस्तक छपाएगा जिसे उप-

कुलपति या विभागाध्यक्ष को समर्पित करेगा। उसमें कुछ ऐसे फ़िररे होंगे—‘जिनके आशीर्वाद से मेरी प्रतिभा की आँखें खुलीं—’ इस समर्पण से लेखक एकदम आगे बढ़ा दिया जाएगा। इन पुस्तकों का महत्त्व ‘विनय पत्रिका’ से कम नहीं है। मैंने एक पुस्तक अभी देखी, जो एक मंत्री महोदय की पत्नी को समर्पित है। मैंने सोचा, और अच्छा होता, यदि लेखक समर्पण के नीचे लिख देता—

कबहुँक अंव अवसर पाइ,

मेरिऔ सुधि द्याइवी कछु करुण कथा चलाइ।

एक विश्वविद्यालय में एक प्राध्यापक को तरक्की दे दी गयी। उसके साथी को बुरा लगा। वह तरक्की का हकदार अपने को समझता था। उसने एक पुस्तक उप-कुलपति को समर्पित कर दी। मुझे लगा, उसके नीचे इसे लिखना था—‘मैं बैरी सुग्रीव पियारा। कारण कवन नाथ मोहि मारा।’

टालू समर्पण में लेखक सब अधिकारियों को टाल जाता है। समर्पण पाने के कई अधिकारी हैं—मित्र, पत्नी, प्रेमिका (एँ) अक्सर आदि। एक को समर्पित करने से उस वर्ग के शेष नाराज़ होते हैं। तब लेखक टालता है—‘मित्रों के नाम’ या ‘जिनसे पथ पर स्नेह मिला—उन्हें’ आदि।

पत्नी के नाम किया गया समर्पण ‘भीरु समर्पण’ है। जब किसी पुस्तक को पत्नी के नाम समर्पित देखता हूँ, तो मेरी आँखों में लेखक की दयनीय मूर्त भूल जाती है। यों कुछ लेखक घुमा-फिरा कर समर्पित करते हैं—‘मेवदूत की प्रथम पंक्ति के द्वितीय शब्द से जिसका नाम ध्वनित होता है’—पर बात छिपती नहीं कि बेचारे ने पत्नी को समर्पित किया है। वे भी बेचारे बड़े भीरु होते हैं, जो प्रेमिका के नाम का केवल पहिला अक्षर लिए कर समर्पित करते हैं—‘मु—के नाम!’ सुनीता का पूरा नाम लिखने में यह खतरा है कि उसका बाप या भाई नेत्रक को पीटेगा, इसलिए ‘मु—के नाम’। ‘मु’—ममक ही जाएगी। शेष में मतलब नहीं। स्थूल में सूक्ष्म की यह यात्रा बड़ी भीरुतामयक है।

दीदीबाद उतना ही पुराना है जितना दादाबाद । कुछ लोग 'पवित्र प्रेम' करते हैं । वे 'दीदी' की पुस्तक समर्पित करते हैं । अब भाभियों की भी समर्पित होने लगी है । दीदी घौर भाभी लगी नहीं होती, मुंहबोली होती है, क्योंकि 'पवित्र प्रेम' तो इन्हीं से हो सकता है । जो इनकी तस-बोर भी दे देते हैं, वे बड़े दूरदर्शी हैं । चित्र से बिक्री बढ़ती है । ऐसे 'ममर्पण' में दुर्घटनाएँ भी हो जाती हैं । एक बड़े सेवक की पुस्तक के पहिले संस्करण में ममर्पण था 'बहन धमक को' । दूसरा संस्करण होने तक 'बहन धमक' पत्नी हो गयी । सेवक ने धागामी संस्करणों में ममर्पण ही निकाल दिया । घौर एक सेवक ने अपनी पुस्तक 'भाभी' को समर्पित की थी । अब सुना है, वे भाभी का साना-सुर्चा दे रहे हैं ।

नदयहीन समर्पण वे हैं, जिनमें कोई खुरा नहीं होता । ये क्रिकेट में 'वाइड बॉल' (अंग्रेजी हटाओ आन्दोलन के अनुसार—'चौड़ी गेंद') की तरह होते हैं । इनका कोई नदय नहीं । ये ऐसे होते हैं—'मानव को आस्था के नाम' ।

मजबूर समर्पण, पुस्तक छपाने के लिए पैसा देने बाने को किया जाता है । द्विवेदी युग में देशी नरेशों और सेठों की इस तरह कई पुस्तकें समर्पित हुईं । इतिहास साची है । जब कोई सेवक न बिकने वाली पुस्तक लिख लेता है और कोई प्रकाशक उसे छापने को तैयार नहीं होता, तब वह किसी सुनामधन्य सेठ को सिद्ध करता है । उसके वैसे से पुस्तक छपाता है और उसे समर्पित कर देता है । लेखक का ग्रंथ निकल जाता है और सेठ का नाम साहित्य के इतिहास में चला जाता है ।

उबक्के समर्पण भी मैंने देखे । नमूना पेश है—'स्वयं को !' 'अपने शत्रुओं को !'

बन्धु, मैं अपने लिए कोई समर्पण का नमूना रोजने गया था, पर वहाँ जा कर शोध करने लगा । विषय बहुत गम्भीर है । सामग्री अघाह है; दोन्धार विश्वविद्यालय के शोध विभाग इसमें खूब सकती हैं । जिनके पास

निराला का होता है, उसी के द्वारा निराकरण के संस्कारों को समझाने का जो लक्ष्य है, उसे निराकरण का निराकरण कह दिया। शेष साधकों के हाथ है।

संस्कृत,

६० अं० १०

सात

प्रिय मित्र,

एक माह हो गया। इस बीच महाप्राण निराला ने भी कुछ किया था। अब हम क्या करें? उस दिन मुझे कुछ मुक ही नहीं रहा था। सभी एक शोक-महा में एक नेता ने कहा—‘निराला जी जो काम छोड़ गये हैं, उसे हमें पूरा करना है!’ मैं बड़ा परेशान कि निराला कौन-सा काम छोड़ गये हैं, जिसे अब ये पूरा करेंगे! निराला तो कविता निगते थे तो क्या मैं दर्नाय स्तर पर काव्य-रचना करवाएँगे? एक मित्र ने बतलाया कि उनका मतलब है कि निराला चुनावों के पहले नाने गये; हम चुनाव जीत कर उनकी आत्मा को बचा देंगे।

उनका मतलब चाहे जो हो, उनके उद्गार से मुझे अपने कर्तव्यों का ध्यान आया। हम हिन्दी वालों को बहुत काम करने हैं। निराला के निधन से ‘महाप्राण’ का पद खाली हो गया है। इस पद पर हमें किसी की नियुक्ति करनी है। मामूली तहसीलदार मर जाता है तो चार दिनों में दूसरा तहसीलदार आ जाता है। पर हिन्दी के ‘महाप्राण’ का पद महीने भर से खाली है। अन्य भाषाभाषी क्या कहते होंगे?

सबसे पहले हमें नये ‘महाप्राण’ की नियुक्ति करनी चाहिए। हिन्दी का कोई अपना ‘लोक-सेवा-आयोग’ तो है नहीं कि भट आवेदन-पत्र बुलवा कर पट नियुक्ति कर दे इसलिए हिन्दी के प्रकाशक और लेखक मिल कर

एक 'महाप्राण-निर्माण-संघ' बनाएँ। फिर किसी प्रतिभावान लेखक को पकड़ कर उस पर दूट पड़ें। वह रोए तो उससे कहें कि रो मत, हम तुम्हें 'महाप्राण' बना रहे हैं। कई पतंगे एक साथ दूट पड़ें तो दीपक बुझ सकता है। हम क्या 'महाप्राण' नहीं बना सकेंगे? जब सब मिल कर उसे 'महाप्राण' कहेंगे, तब वह आत्मघाती निरपेक्षता अपना लेगा। वह किसी से कुछ नहीं माँगेगा; बाँट देगा। वह रायल्टी का हिसाब नहीं करेगा। वह अधिकार छोड़ता जाएगा और क्रोध करता जाएगा। वह अपना कोई काम नहीं करेगा और हम भी उसका कोई काम नहीं करेंगे। वह पागल हो ही जाएगा और शराब भी पीने लगेगा। तब हम हत्ला मचाएँगे कि हमारा महाप्राण पागल हो गया। हमारा महाप्राण शराब पीता है। तब हम उसे 'पवित्र' स्थानों से निकालेंगे और वह किसी गंदी कोठरी में पड़ा मर जाएगा। हम जगह-जगह आत्म-संतोष से महाप्राण की कमजोरियों का बखान करेंगे और अपने को परम पवित्र बतलाएँगे।

लेकिन एक आदमी ने मुझसे हात ही में कहा—'अगर ठीक ढंग से, यानी व्यावसायिक ढंग से उपयोग किया जाए, तो 'महाप्राण' का पद बड़े लाभ का है। निराला को तो कुछ नहीं आता था। उसमें पद का उपयोग करते ही नहीं बना। अगर तरफ़ीब ने काम लेता, तो पैसा पा सकता था, संवाद का सदस्य हो सकता था, प्रतिनिधि मंडलों में विदेश जा सकता था, सम्मान और इनाम पा सकता था और 'भारत रत्न' तक को उपाधि पा सकता था। अपने स्मारक तक का ईतजाम कर जाता। मगर निराला से कुछ नहीं बना।'

बग्यु, बात पते की है। जब खपराखो से लेकर मंत्री तक, हर पद के काम हैं, तब 'महाप्राण' का पद लाभहीन क्यों होगा? मुझे बताया गया कि कुछ 'लघुप्राण' योजनाबद्ध तरीके से 'महाप्राण' बनने के प्रयत्न में लगे हैं। सुना है, कुछ सम्पन्न लघुप्राणों ने निराला के आसपास के लोगों को सोम देकर यह कहलवाना चाहा है कि अंतिम समय निराला ने हमारा नाम लिया था। इस तरह 'महाप्राण' का खिताब अपने आप सरक

कर, उनके पास आ जाएगा। इसके बाद 'लघुप्राण' जी का प्रचार-विभाग काम शुरू कर दे। ऐसे लेख लिखे जाएँ—

निराला ने लघुप्राण जी का नाम रटते-रटते प्राण त्यागे।....लघु-प्राण ने भी बड़ी तपस्या की है। साहित्य साधना के पथ पर बढ़ते हुए उनके चरण काँटों से क्षत-विक्षत हो गये हैं। घोर विपत्ति में भी वे अविचल रहे। उनके पिता का मासिक खर्च ५ हजार रुपया था, पर लघुप्राण जी सिर्फ एक हजार में महीना काट रहे हैं। इस घोर दारिद्र्य में भी वे अबाध गति से शाश्वत साहित्य रचते रहे। अपनी पुस्तकों पर लेख लिखवाने के लिए उन्होंने हजारों रुपये बहा दिये। इस त्याग की विश्व साहित्य में समता नहीं है। 'राम की सत्ता पूजा' नामक काव्य पर भारत के सब पुरस्कार प्राप्त करने के लिए उन्होंने घोर परिश्रम किया। अपने उपन्यास 'किराये का भाट' विश्वविद्यालयों के पाठ्य-क्रम में शामिल कराने के लिए उन्होंने कितने ही आचार्यों की सेवा की। लघुप्राण जी एक अपराजित पौरुष के धनी हैं। वे महात्मा हैं। हिन्दी के सच्चे 'महाप्राण' वही हैं।

बन्धु, ऐसा कोई लघुप्राण अगर 'महाप्राण' बन जाए, तो हिन्दी का भी गौरव बढ़े। उसकी मृत्यु पर प्रधान मंत्री, मुख्य मंत्री आदि सब श्रद्धांजलि अर्पित करेंगे। संसद में भी शोक-प्रस्ताव पारित होगा। सरकार उसका स्मारक बनवाएगी। हिन्दी का नाम बढ़ेगा। निराला ने तो लघुप्राण जी का नाम डुबाया। उसकी मृत्यु पर किसी ने कुछ नहीं कहा। और कुछ कहे भी क्यों? राष्ट्र को कवि की जरूरत नहीं है; पुलिसमैन जरूरत है। और फिर निराला न अच्छे कपड़े पहनता था, न अच्छे जूते पहनता था। उच्च वर्ग को छोड़ कर मधुमक्खन और मल्लाहों में ही रहता था। कोमनो विदेशी शराब नहीं पीता था; ठर्रा पीता था। ऐसे कवि की मृत्यु पर कोई राजनेता बोल पड़ता, तो राष्ट्र की प्रतिष्ठा धूल में मिल जाती। इसलिए बन्धु, सब भिन्न कर इस बार ऐसा प्रयत्न करो कि लघुप्राण जी 'महाप्राण' बने।

काम बहुत है। अभी तो मुझे निराला की चिट्ठियाँ खोजनी हैं। इन्हें छपाने का मौसम आ गया। (कान में कहूँ - निराला ने मुझे एक भी चिट्ठी नहीं लिखी क्योंकि जब मैं होश में आया, निराला पागल हो चुका था। पर चिट्ठियाँ छपाऊँगा जरूर!) इन चिट्ठियों के छपने से लोग यह जान लेंगे कि निराला के मुझमें कितने निकट के सम्बन्ध हैं। मैं देख रहा हूँ कई लोग साहित्य में इसीलिए जी पा रहे हैं कि उनके पास बड़ी की चिट्ठियाँ हैं। जैसे किमो की गुप्त चिट्ठी को लेकर कुछ पीत-पत्रकार 'ब्लैकमेल' करते हैं, उसी तरह का 'ब्लैकमेल' साहित्यिक चिट्ठियों से भी होता है।

बन्धु, निराला का बाज़ार बंद गया। गाँधी जी की मृत्यु के बाद गाँधी जी का बाज़ार भी बंद गया था। लोगों ने रात भर मैं गाँधी पर कविता-मुस्तक लिख कर सुबह छपने को दे दी। महान् हास्यास्पद रचनाएँ थी ये। उपराष्ट्रकवि 'दिनकर' की ये पंक्तियाँ देखिए—

गाँधी की धर्यो नहीं चली

धर्यो यह भारत माता की

राष्ट्र-गौरव के कवि ने जल्दबाज़ी में भारत माता की ही धर्यो निकाल दी! उस समय गाँधी का बाज़ार था। माल जल्दी दूकान पर लाना था। इस समय निराला का बाज़ार है। कविता तो मुझमें बनती नहीं; संस्मरण अवश्य लिखूँगा। एक संस्मरण के मसौदे में मैं कुछ टुकड़े दे रहा हूँ, जिनसे निराला की महानता प्रकट होती है—

'....निराला जी मुझे बहुत चाहते थे। मुझमें कभी संकोच नहीं किया। वे आर्थिक कष्ट में रहते थे। और जब जरूरत होती थी, मुझमें रुपया माँग लेते थे। मैं पत्र पाते ही उन्हें तुरंत रुपये भेज देता था। सैकड़ों रुपये मैंने उन्हें भेजे।'।

'....बे बेहद विनयी थे। मुझे याद है, जब मैं उनसे पहली बार मिला, तो वे हाथ जोड़ कर भुक्त हुए। मैं तो उनकी विनय देख कर दंग रह गया। मैंने कहा कि आप महान् कवि हैं। आप इस प्रकार क्यों भुक्त

हैं ? उन्होंने महान् मान में कहा—'मेरा साया महान् प्रतिभा को नमन कर रहा है । ऐसे दिनो मे निराशा ।'

'....सामान्य को यह धरना में कभी नहीं पहुँचा । बड़ा भारी सम्मेलन था । निराशा नरनाहर को तरह संभ पर बैठे थे । मुझे मोड़ में देखा, जो एकदम उठे और मेरी ओर बने । सब सांग भोजन कि ये कहाँ जा रहे हैं । मेरे पास सा कर, मेरा हाथ पकड़ कर बोले—'आप यहाँ कैसे पहुँचे हैं ? ननिष् संभ पर ।' मैंने बहुत घानाकानी की पर ये नीच कर से ही मेरी ओर संभ पर अपने पास बिछाया ।'

'....ये जब भी कुछ लिखते, मुझे अवश्य बताते थे । मैं जो मुभाव देता, उसे ये एकदम मान लेते थे । 'गुलामीदास' की पाठुलिपि उन्होंने मुझे भेजी और लिखा कि इसे ध्यान से देखा जाए और जहाँ गलती हो, बताइए । मैंने उसमें कई जगह भूलें बतायीं और उन्होंने वे ठीक कर लीं । कितन कवि अपनी भूल सुधारने के लिए इस तरह तैयार रहते हैं !

बन्धु, कुछ इस तरह के संस्करण में लिखने वाला हूँ । इनकी कोई पकड़ नहीं है । निराला यह कहने तो आएँगे नहीं कि यह भूठ है । इन संस्मरणों से निराला का चाहे जो हो, यह बात तो प्रकट हो ही जाएगी कि उन्हें मैंने रुपये भेजे, वे मेरे सामने झुकते थे, मुझे महान् प्रतिभावान् कहते थे, वे मुझसे अपनी कविताएँ ठीक करवाते थे ।

हम लोगों को निराला स्मारक भी बनवाना चाहिए । हमारा देश र-प्रेमी है । हम खेडहरों की हिकाजत लाखों के खर्च से करते हैं कि उन्हें विदेशी पर्यटकों को दिखाना पड़ता है । इनसे उन्हें भारतीय ति का ज्ञान होता है । निराला का भारतीय संस्कृति से कोई मतलब था; पर निराला-स्मारक संस्कृति का प्रतीक होगा । इसीलिए हम की अपेक्षा कवि के स्मारक को अधिक महत्व देते हैं । निराला को करने की कोई जरूरत ही नहीं थी । जरूरत है स्मारक बनाने की । स्मारक निर्माण भी व्यवसाय हो सकता है । स्मारक बनवाने वालों की हालत सुधर जाती है । मरे के नाम पर हमारे देश में काफ़ी

पन मिल जाता है। स्मारक निर्माण कराने वाले अगर बतुर्दा से काम लें, तो स्मारक के साथ उनका अपना मकान भी बन सकता है। मकान भी निराला स्मारक ही होगा। बन्धु, मुझे भी मकान बनवाना है। मैं बेपरवार बा हूँ। अगर मुझे आप लोगों की मदद मिल जाए, तो निराला की स्मृति में मेरी भी हवेली बन जाए। बनाऊँ स्मारक समिति? आप यदि सहायता करेंगे, तो आपका नाम भी वही न वही खुदवा दूँगा। आप धमर ही जाएँगे घोर इतिहास को भी धोखा दे सकेंगे। जब हम स्मारक बनवाएँगे तो हमें हक होगा कि अपनी कविता खुदवा लें या अपना नाम खुदवा लें।

बन्धु हिन्दी वालों को बहुत काम करने हैं। हमारी जिम्मेदारियाँ आत्मों के मरने के बाद शुरू होती हैं। हम इलाज में पैसा खर्च नहीं करते; उसे आद के लिए बचा कर रखते हैं।

निराला के लिए कुछ करना ही चाहिए। वह अगर सरकारी सेलक होता, तो सारा काम सरकार कर देती। उसको सबसे बड़ी गलती यही तो थी कि वह सरकारी नहीं हुआ।

आपने भी कुछ योजनाएँ बनायी होंगी। मुझे सूचित कीजिए। ऐसे मामले मिल कर भच्छे होते हैं।

आशा है, आप लोग प्रसन्न हैं। (निराला की मृत्यु से नहीं।)

सस्नेह,
ह० शं० प०

आठ

प्रिय बन्धु,

पिछले महीने पत्र नहीं लिख सका। यों बन्धुवर रेणु जी के 'उत्साह-वर्धक' पत्र के बाद लिखना लाजिमी था। पर मैं बहुत व्यस्त और परे-

जान रहा । अपना किम काम में था और परेशान क्यों रहा यह सम-
झाईया । मैं अपने राज्य की राजधानी के बनकर काटने में व्यस्त रहा ।
आपकी यह बात पड़ेगी नहीं । आप कहेंगे कि राजधानी है, तो वहीं बस
जाना सिगक का कर्तव्य है । बनकर क्यों मगाते हो ? मैं बसने का सिल-
सिला ही जमाने का प्रयत्न कर रहा था । जब मैं गुना कि पंजाब सरकार
ने दो 'राजकवि' नियुक्त कर दिये हैं तब मैं मेरा मन बड़ा नचन हो उठा
है । मैं कोशिश में था कि मेरी राज्य सरकार को भी सुमति आ जाए
और यह मुझे 'राजसेवक' नियुक्त कर दे । पर सब व्यर्थ ! मेरी राज्य
सरकार बहरी है । अगर पंजाब में 'प्रतापसिंह रासो' की रचना पूरी हो
चुकी है और दूसरे 'राजकवि' की अभी नियुक्ति ही नहीं हुई ।

राजधानी से निष्कल ध्रम करके लौटा तो मुझे अपने आने लगे ।
बड़ा परेशान रहा । तरह-तरह के सपने जिनका अर्थ मैं समझ ही नहीं
सकता । ऐसी चीजें दिगती हैं, जो फ्रायटीय प्रतीकों के भी दायरे में
नहीं आतीं । आप बड़े दादा बनते हैं—भला बताइए, सपने में अगर
जैनेन्द्र कुमार दिरों तो क्या अर्थ हुआ ? हाँ, एक रात मुझे साक्षात् जैनेन्द्र
दिखे । दिखे ही नहीं, मेरी बातचीत भी उनसे हुई । पूरा सपना बताता हूँ ।
मैं रास्ता भूल गया हूँ । मुझे स्टेशन जाना है । मैं सड़क पर खड़ा हूँ कि
कोई मिले, तो उससे स्टेशन का रास्ता पूछ लूँ । इतने में एक छोटे क़द
का शुभ्र खादीधारी व्यक्ति वहाँ से निकला । मैंने कहा—'जरा सुनिए ।'
वह रुका और उसने मेरी ओर देखा । मैंने पहचाना—अरे, ये तो जैनेन्द्र-
कुमार हैं ! सोचा कि जो जैनेन्द्र जीव और ब्रह्म का; श्रेय और प्रेय का
अस्ति और नास्ति का, नीति और अनिति का पता बताते हैं, उनसे स्टेशन,
जैसी तुच्छ भौतिक वस्तु का पता क्या पूछूँ ! मैं हिचकिचाया । वे बोले
—'पूछो !' मैंने कह दिया—'मुझे कुछ नहीं पूछना 'माफ़ कीजिए ।'
वे कहने लगे, 'रोका है तो पूछना होगा । सभी पूछते हैं ।' मैंने कहा,
'मुझे कुछ नहीं पूछना ।' वे बोले, 'पर मुझे तो उत्तर देना है । अपने लिए
नहीं, तो कम से कम उत्तर के लिए पूछो । प्रश्न चाहे तुम्हारी मज़बूरी न

हो; पर उत्तर मेरी मजबूरी है।' जब मैंने देखा कि जैनेन्द्र स्वयं हठ कर रहे हैं, तब मैंने सोचा कि स्टेशन का पता पूछ लूं। इसके पहले निश्चित करने के लिए मैंने कहा, 'भाऊ कीजिए। आपका नाम जैनेन्द्र कुमार है न?' उन्होंने चित्तित्र पर दृष्टि जमाते हुए कहा, 'नाम? सो कैसे कहूँ? नाम गुण वाचक है कि व्यक्ति वाचक? हाँ, हैं भी और नहीं भी हैं। कह दिया जाता है, तो जैनेन्द्र हैं! कोई न पुकारे तो नहीं हैं।' मेरा समाधान नहीं हुआ। मैंने पूछा, त्यागपत्र, परस, विवर्त आदि उपन्यास आपने ही लिखे हैं न? वे मुसकुराये। कहने लगे, 'लिखे हैं—यह कैसे कहूँ? हाँ, दो-चार उपन्यास मेरे नाम भी हैं। लिखा गये हैं। न लिखा जाना क्या बश की बात है?'

मैं बड़ी दुविधा में पड़ा कि स्टेशन का रास्ता पूछूँ या नहीं। आखिर पूछ ही बैठा, 'जैनेन्द्र जी, कृपा कर मुझे स्टेशन का रास्ता बता दें, किस तरफ है?' प्रश्न सुन कर वे चिंतन में डूब गये। अर्धोन्मीलित नयनों से शून्य में देखते रहे। फिर बोले, 'स्टेशन? हाँ, होगी तो रास्ता भी होगा। स्टेशन हो भी सकती है और नहीं भी। होने का क्या अर्थ? और नहीं होना क्या? स्टेशन है—यदि कोई साची है। साची के बिना अस्तित्व कैसा? मैं किस ओर बताऊँ!' मैं बड़ी उत्तमन्न में पड़ गया। धड़का कर कहा, 'मुझे सिर्फ यह बतला दीजिए कि द्धर पूर्व की ओर है या उधर पश्चिम की तरफ। फिर मैं भागे किसी से पूछ लूँगा।' जैनेन्द्र हँसे। बोले, 'पूर्व और पश्चिम का निर्णायक मैं कौन? दिशाएँ तो सापेक्ष हैं। पूरव क्यों पूरव है? पश्चिम के सम्बन्ध से ही पूरव हुआ। ऐसे ही पश्चिम। तो कैम कहूँ? दिशाएँ सत्य हैं, स्टेशन यथार्थ है। सत्य के सन्दर्भ में यथार्थ की स्थिति कैसे निश्चित हो?'

मुझे माद है, इसके बाद मैं चिल्ला उठा था। नोद खुली तो रोशनी करके अपने कमरे की भन्धी तरह पहचाना; तब कहीं सो सका।

सपनों की कोई शुमार है। एक दिन प्रेमचन्द की परम्परा पर बहस करते-करते सो गया। सपने में गोबर आ पहुँचा, होरी का लडका। धव

तो बूढ़ा हो गया है। कहने लगा, 'मेरी परम्परा कहाँ है? मेरा लड़का कहाँ है?' मैंने कहा, 'भई, मैं नहीं जानता। जिस चाल में तू रहता है, उबर से मैं एक बार निकला था। मुझे चाल के जीवन पर एक कहानी लिखनी थी। तब तेरा लड़का कारखाने जाता दिखा था। गोवर, तुमने व्यर्थ ही गाँव छोड़ दिया। आज सरपंच बनने का मौका तुम्हें मिल सकता था।' गोवर बोला, 'मेरा एक लड़का गाँव में ही है। मालगुज्जार ने जो परती ज़मीन भूदान में दी थी, उसका एक हिस्सा उसे मिल गया है। उसकी परम्परा के बारे में ही मैं तुमसे पूछ रहा हूँ।' मैंने कहा, 'तो मैं कुछ नहीं जानता। मैं गाँवों की तरफ नहीं जाता। शहर में रहता हूँ। प्रेमचन्द की बात अलग थी। अब उनकी परम्परा का बंटवारा हो गया है। अगर गाँव की तरफ जाऊँगा, तो मार्कण्डेय मुझे गिरफ्तार करवा देगा और इधर मोहन राकेश शहर बदल करा देगा। कहीं का न रहूँगा। किसी कसबे में शरण लेना चाहूँगा, तो कमलेश्वर मोटर स्टैंड के गुडे पीछे लगा देगा और सड़क के भागे को सत्तावन में से किसी गली में शरण नहीं मिलेगी। अगर तुम्हें अपने गाँव वाले बेटे के विषय में जानना है, तो नागार्जुन, रेणु, मार्कण्डेय या शिवप्रसाद सिंह के सपने में जाओ। यहाँ क्यों आये?'

मुझे क्या मान्य कि गोवर के पीछे गये हुए प्रोफेसर मेहता गुन रहे हैं। गोवर को हटा कर वे आगे आये और बोले, 'अगर तुम शहरी हो, तो बताओ कि मेरी परम्परा कहाँ है? मेरा बेटा?' मैंने हँस कर कहा, 'क्या मतलब करने है, प्रोफेसर साहब! आपका बेटा भी या? आप तो क्वारि रहे। डॉक्टर मानती ने आपको टरका दिया था।' मेहता ने कहा, 'मैं अपने मानव-सुख के बारे में पूछ रहा हूँ—मेरे उस प्रिय शिष्य के क्या हाल हैं, जिसका मैंने अपने अनुभव निर्माण किया था?' मुझे साद आया। कहा, 'हाँ, मेहता साहब, उसे मैं जानता हूँ। वह यहाँ उदम रहता है।' 'उदम क्यों रहता?' मेहता परेशान हो गये। मैंने कहा, 'यह मैं भी नहीं जानता। मैंने एक दिन उससे पूछा कि भाई, उदम क्यों रहने लगे। उसने

कहा कि मैं बुद्धिजीवी हूँ, इसीलिए उदास हूँ। मेहता साहब, मैं उसकी बात नहीं समझा। घोर प्रश्न किये, तो उसने सिगरेट के धुएँ के धुल्ले बनाये घोर उन्हें देखता हुआ कहने लगा कि प्रसन्न रहना गंवारो है; उदास रहना बौद्धिकता का सचण है।' प्रोफेसर मेहता दुखी हुए। कहने लगे, 'मैंने तो उसे काम करना घोर खुश रहना सिखाया था।' मैंने कहा, 'मेहता साहब, वह कहता है कि काम करना घोर खुश रहना पुरानापन है। काम नहीं करना घोर उदास रहना आधुनिकता है। आपका मानस-पुत्र जब शहर में उदासी की सुविधा नहीं पाता, तब पहाड़ों पर उदास रहने के लिए चला जाता है। वह कहता था कि उसके पान परिचम से बुद्धिमानों की चिट्ठी आयी है कि इधर हम सब उदाम हो गये हैं; तुम भी उदाम हो जाना। बम, तभी से वह उदास रहने लगा है। उसे आधुनिकता ग्रहण करना है न।' मेहता सन्नाटे में आ गये। बोले, 'यह बात मेरी समझ में नहीं आयी। हाँ भई, मैं पुराना आदमी हूँ। अच्छा, वह जो बड़े उद्योगपति थे, तनखा साहब; उनके बेटे के क्या हाल हैं?' मैंने बताया, 'वह कभी-कभी आपके पुत्र के साथ दिखता है।' वह भी कभी-कभी आधुनिक हो जाता है। एक बार हम तीनों मिलाई का इस्पात कारखाना देखने गये। आपका बेटा घोर मैं तो उस निर्माण को देख कर प्रसन्न हुए पर तनखा का बेटा उदास हो गया। मैंने कारण पूछा, तो आपके बेटे ने बताया कि इसे आधुनिक भावबोध हो गया है? मैंने कहा कि कारखाने को देख कर मुझे जो प्रसन्नता हो रही है, वह क्या आधुनिक भाव-बोध नहीं है। उसने उत्तर दिया कि आधुनिकता भी कई तरह की होती है। तनखा का लड़का मानता है कि हम जब आधुनिक होंगे, तब विदेशी पूँजीवाद चला जाएगा घोर भारतीय पूँजीवाद विकसित होगा, व्यक्तिगत उद्योग चलेंगे, व्यक्ति स्वतंत्र होगा। उसको यही आधुनिकता है। जब यहाँ वह सार्वजनिक उद्योग को फलते-फूलते देखता है, तब उदास हो जाता है। यही उसका आधुनिक भाव-बोध है। आप भी आधुनिक हैं; वह भी आधुनिक है। पर दोनों की आधुनिकता के भलग-भलग अर्थ'

हैं। मेरी आधुनिकता आप दोनों से भिन्न है।'

मेहता को यह सब बातें समझ में नहीं आयीं। वे कुछ वड़वड़ाते हुए चले गये।

बन्धु, इस तरह के साहित्यिक सपने आते हैं, जिनसे परेशान हूँ। ऐसे में स्तम्भ कैसे लिखा जाए ?

और क्या हाल है ?

सस्नेह,

ह० शं० प०

नौ

प्रिय बन्धु

इधर हिन्दी-शोध पर बहुत चर्चा हो रही है। 'कल्पना' में ही सालेक पहले श्री स० ही० वात्स्यायन ('अज्ञेय' जी का गद्य-नाम) ने लिखा था कि शोध अलग चीज है और हिन्दी-शोध अलग जैसे कई लोगों की नज़रों में कविता अलग चीज है और नयी कविता अलग। और अब, जल्दी ही, कहानी से नयी कहानी अलग हो रही है।

शोध का बड़ा हल्ला है। साहित्य के डाक्टरों, कम्पाउंडरों नर्सों और मलहमपट्टी करने वालों का क्रम लगा है। ऐसे में, जो शोध न करे वह अभागा। अभागा होने से बचने के लिए ही मैंने भी किसी विषय पर शोध करने का इरादा एक मित्र पर प्रकट किया, तो उसने पूछा, 'तुम्हारी दादी हैं ?' मैंने कहा कि वह तो बहुत पहले सिधार गयीं। उसने कहा, 'तुम सचमुच अभागे हो। दादी होतीं तो तुम 'आंचलिक शोध' कर सकते थे।' मैं उसकी बात समझा नहीं। आंचलिक कथा से तो मेरा परिचय है पर हिन्दी में 'आंचलिक शोध' भी होती है, यह मैं नहीं जानता था। मेरे भले मित्र ने समझाया, 'आंचलिक शोध यों होती है—अपनी दादी

के पास बैठ कर उनके धंत्त के १०० गीत सित लो । उनका वर्गीकरण कर दो—बिवाह के गीत, गीने के, फाग के, घान कूटने के आदि । फिर हर गीन पर टिप्पण्यो सित दो । धारम्म में एक सम्बा 'प्राक्कयन' सित कर इस शोध-प्रबन्ध को उसी तरह रस दो जिस तरह तुलसीदास ने रामचरितमानस की पांडुलिपि हनुमान जो के हस्ताक्षर के लिए रस दी थी । अगर तुम्हारी भक्ति सच्ची है तो कोई धाराध्य धाचार्य रात को आ कर पोथी पर हस्ताक्षर कर जाएंगे ! वस, तुम्हारा प्रबन्ध हिन्दी भाषी उमी तरह गले लगा लेंगे जिम तरह हनुमान की मंजूरी के बाद राम-चरितमानस को शोश पर चढ़ाया है । 'ढाकटरी' तो तुम्हें यों ही मिल जाती । पर तुम्हारी दादी ही नहीं है । मुझे इस नुम्हे की जानकारी नहीं थी । मैं बहुत पछताया । प्रार्थना की कि हे भगवान्, किसी भी हिन्दी के एम० ए० की दादी उसे पो० एच० डी० मिलने के पहले न मरे ।

मित्र पछताने से क्या होता है ! मैंने दूसरा विषय चुना—'छायावादी काव्य में नारी' यह विषय इसलिए चुना कि मुझे 'प्रसाद' की दो पंक्तियाँ याद हैं—'नारी तुम केवन अढा हो, विरवास-रजत-नग पगतल में !' विषय तय करके मैंने छायावादी काव्य-ग्रंथ उठाये और उन पंक्तियों को रेखांकित करने लगा, जिनमें नारी, स्त्री, कामिनो, शुभे, सुभगे, शुभदे, रूपसि, प्रेयसि, सजनी, सखि, प्रिये, सुन्दरी आदि में से कोई शब्द आया हो तभी मेरा एक ग्रन्थ मित्र आया जिसे शोध का अनुभव है । उसने कहा, 'यह क्या कर रहे हो !' मैंने कहा, 'क्यों ? छायावादी काव्य में नारी को खोज रहा है ।' उसने तरस खायी । बोला, 'ऐसे शोध कार्य नहीं होता । तुम्हें तो शोध का अर्थ नहीं मालूम । मेरे भाई, तुम्हें छायावादी काव्य में नारी की शोध नहीं करना है । शोध दूसरे विषयों की होती है, पर हिन्दी भन्त में इसी विषय पर मित जाएगी ।' मैं चकरा गया ! आखिर वे कौन-सी चीजें हैं, जिनकी शोध होगी और इस विषय में पो० एच० डी० मिल जाएगी ! मैंने शस्त्र समर्पण कर दिया । तब मेरे

अनुभवी मित्र ने मेरे शोध-कार्य की रूपरेखा बना दी, जो शोधोत्सुक छात्रों के लाभार्थ यहाँ दे रहा हूँ : —

विषय—छायावादी काव्य में नारी

शोध-कार्य की रूप-रेखा—

आरम्भिक—(अ) ऐसे आचार्य की शोध करना जो किसी विषय का विशेषज्ञ न हो, पर जिसके सम्बन्ध अन्य विश्वविद्यालयों में ऐसे हों कि डिग्री दिला दे। (विशेषज्ञ से दूर रहना क्योंकि वह कष्ट देता है।)

(आ) ऐसे आचार्य को निर्देशक के रूप में प्राप्त करना।

शोध-प्रक्रिया

प्रथम चरण—आचार्य की रचियों की शोध—वे सब्जो कौन-सी पसन्द करते हैं, लौकी या बैंगन। वस्त्र कौन से धारण करते हैं? पान कौन-सा खाते हैं? तम्बाकू कौन-सी? मनोरंजन का माध्यम—सिनेमा, संगीत, नाटक, निंदा या मिथ्याभाषण?

द्वितीय चरण—आचार्य तथा आचार्य-संतति की रचियों की शोध।

विशेष—आचार्य की ईर्ष्या-पात्रा नारियों के चरित्रों की शोध।

तृतीय चरण—आचार्य के साहित्यिक और गैर साहित्यिक शत्रुओं की तालिका बनाना और हर की व्यक्तिगत कमजोरियों की शोध करना—जहाँ कमजोरियाँ न मिलें, वहाँ अपनी प्रतिभा का उपयोग करके कमी को पूरा करना।

चतुर्थ चरण—उपरिलिखित शत्रुओं की हानि करने के साधनों की खोज। इस बात पर ध्यान रखना कि कहाँ किसका हित-साधन हो रहा है। उसमें यथाशक्य बाधक होना।

पंचम चरण—आचार्य की साहित्य सम्बन्धी मान्यताओं की शोध करना (यदि हों तो) और उनके मुख से झरने वाले निर्णयात्मक वाक्यों को मंत्री की तरह रट लेना जैसे—‘प्रेमचन्द प्रचारक है!’ ‘यशपाल नारेवाज है।’ ‘उग्र गंदा है।’ ‘नया साहित्य कचरा है।’

‘नयी कविता—दृष्ट !’

पष्ठम धरण—भाचार्य को महत्वाकांक्षाओं को शोध करना जैसे (क) पद-सम्बन्धी (ख) सम्मान-प्रभिनन्दन सम्बन्धी (ग) प्रशस्ति-व्यवस्था (घ) धपने ऊपर पुस्तक लिखवाना आदि ।

सप्तम धरण—भाचार्य की सेवाओं के प्रकारों को शोध (कहा है—सेवा से मेका भिन्नता है) सेवाओं के प्रकार यथा-उत्तरते पूरी करना, बाजार में खरीदा धाम बनारस में साया बताना, पान बिलाना, बच्चों को भाटक दिखाना, सोश-मुनूक कर देना, प्रशंसा-लेख लिखना, फोटो खिचवाना आदि ।

शोध-प्रक्रिया को इस तरह सात धरणों में बाँट कर उसने रूपरेखा तैयार कर दी थी कहा, 'धब इस रूप-रेखा के अनुसार कार्य करो । कार्य क्या करना है, यह रूप-रेखा से ही स्पष्ट हो जाता है । जैसे प्रथम धरण के धन्तर्गत तुम्हारा कार्य होगा, भाचार्य के घर में लौकी पहुँचाना, उनके लिए इन्हे में पान लिये रहना, उनके शत्रुओं की निन्दा करते रहना (धपने मित्र हों तो भी क्योंकि शोध पतिव्रत-धर्म है) पष्ठम धरण के धन्तर्गत भाचार्य के सम्बन्ध में लेख लिखना, उनकी घोर से पुस्तक लिख देना, उनके सम्मान का सिलसिला जमाना उनकी तसवीर छपाना आदि कार्य होंगे ।'

मैंने कहा, 'जब यह शोध-कार्य पूरा हो जाएगा, तब द्विती किस विषय पर मिलेगी ?'

उसने कहा, 'क्यों जो विषय तुम्हारा है, उसी पर मिलेगी याने 'छायावादो काव्य में नारी' पर ।'

बन्धु, रूपरेखा तैयार है । इस पर कार्य करने का साहस जुटा रहा है । धमी भाचार्य के प्रति निष्ठा जागृत करने में लगा है । रोज़ पाठ करता है—'नाते सकल, राम ते मनियत सेवक सेव्य जहाँ लौ !'

घोर सब ठीक ही है ।

सस्नेह

ह० शं० प०

पुनश्च (गोपनीय)

बन्धु, जैसा कि आप समझ गये होंगे, यह सब मैंने ईर्ष्या से प्रेरित हो कर लिखा है। अभी तक मैं पी० एच० डी० नहीं हुआ इसलिए ईर्ष्याग्रस्त हो गया हूँ। पर यह बात अपने तक ही रखना।

ह० शं० प०

दस

प्रिय बन्धु,

दुनिया के आकाश और भारत के साहित्याकाश, दोनों में एक साथ हलचल मच गयी। उधर क्रिसमस द्वीप पर बम-विस्फोट हुआ; इधर दिल्ली में एक लाख के इनाम की घोषणा हुई। दोनों विस्फोट एक साथ हुए—पता नहीं किसने किसके साथ समय साधा! भारतीय लेखक की हालत अजीब हो गयी है। अदना से अदना लेखक के चेहरे पर मुझे एक लाख का चेक चिपका दिखता है।

भारी हलचल है। पुरस्कार के पक्ष में और विपक्ष में लोग बोल और लिख रहे हैं; 'जय' और 'धिक्' के नारों से आसमान ऐसा भर गया है कि प्रेमीजनों को रेडियो सीलोन के गाने सुनने में कठिनाई पड़ रही है। लोग मुझसे कहते हैं कि तुम इस पर कुछ क्यों नहीं बोलते। मैं कहता हूँ, मैं चुप हूँ। मैं चुप हूँ क्योंकि मुझे इनाम चाहिए, जिसे इनाम चाहिए, वह चुप ही रहेगा। जो इनाम की आलोचना कर रहे हैं, वे अपना भविष्य बिगाड़ रहे हैं। उन्हें इनाम नहीं मिलेगा। जो जय बोल रहे हैं, उन्हें भी नहीं मिलेगा क्योंकि इनामदाता जानते हैं कि ये 'लॉटरी' और वर्ग-महेली के इनामों की भी इसी तरह जय बोलते हैं। इनाम उन्हें मिलेगा, जो चुप हैं। शीतयुद्ध में तटस्थ देशों को लाभ मिलता है; भिलाई और रूरकेला दोनों हाथ आते हैं। इसीलिए हम चुप हैं। हमें यह इनाम लेना ही है।

मेरे सामने प्रश्न यह है कि यह इनाम कैसे मिलेगा। घोषणा को ध्यान से पढ़ने पर मेरे हाथ 'कला की दृष्टि से' शब्द पड़े। यही योजना की पकड़ है। विशुद्ध कला की दृष्टि से जो ग्रंथ थोड़ा होगा, उसी पर इनाम मिलेगा। आप जानते हैं कि हर कला विकसित होते-होते 'कला-बाजी' हो जाती है। इसलिए जो आगे देखता है, जो भविष्य-द्रष्टा है, वह कला को छोड़ कर 'कलाबाजी' पर ध्यान देता है। जो लोग इनाम के पक्ष-विपक्ष में बोल रहे हैं, वे 'कला' की दृष्टि में रक्त कर सोच रहे हैं। वे भूल रहे हैं कि साहित्य-रचना कला की सीमा से आगे बढ़ कर 'कलाबाजी' तक पहुँच गयी है। जो कला में अटक रहे हैं, उनका भविष्य बिगड़ेगा।

मैं जब स्कूल में पढ़ता था, तब हर साल किसी लड़के को सर्वोत्तम आचरण पर इनाम मिलता था। इनाम का निर्णय हेडमास्टर साहब, ड्रिल मास्टर की सलाह से, करते थे। सर्वविदित है कि स्कूलों में लड़कों के आचरण पर नज़र रखने की जिम्मेदारी ड्रिल मास्टर पर होती है। जिन लड़कों को इनाम पाना होता, वे इन दोनों की निगाह में अच्छे लड़के बनने का प्रयत्न करते थे। वे दिन में दस बार हेडमास्टर को 'नमस्ते सर!' कहते थे। जहाँ वही हेडमास्टर दिख जाते एवढम झुक कर 'नमस्ते सर।' छोटी छुट्टी में, बड़ी छुट्टी में, बहुत बन्द होने पर, खेल के मैदान में हर बार 'नमस्ते सर' कहते थे। इसी तरह ड्रिल मास्टर का खुश करते थे। बड़े मन से कवायद करते, उनका हर काम करने को तैयार रहते, उनके लिए पास के बगीचे में भ्रमरद तोड़ कर ले आते। साल के अंत में अच्छे आचरण के लड़के का नाम घोषित होता और वह इनाम पा जाता। कभी ऐसा भी होता कि जो अपने को सबसे अच्छा लड़का सिद्ध करता, उसे न मिल कर इनाम दूसरे को मिल जाता क्योंकि यह दूसरा लड़का स्कूल बगैरी के गियों मध्य का कोई होता। मगर एक बात विचित्र होती—जिसे इनाम मिलता, वह लड़को के बीच में बहुत निक्कमा और सत्त्वहीन माना जाता। मान मर इनाम लेने के

कोशिश में वह ऐसी 'कलावाजियाँ' करता कि जब उसे इनाम मिलता तो हमें लगता एक हममें से सबसे निकम्मे, दबू और व्यक्तित्वहीन लड़के को चुन लिया गया। फिर भी कोशिश होती ही थी क्योंकि इनाम बड़ी चीज है।

बन्धु, स्कूल की सीखी बातें जीवन भर काम आती हैं। इनाम पाने की इस तरकीब के उपयोग करने का अब मौका आया है। हेडमास्टर को 'नमस्ते सर' का सिलसिला जमाता हूँ। ड्रिल-मास्टर को खुश करने के प्रयत्न भी करूँगा। लोगों ने घोषणा के बाद जैसा वातावरण बना दिया है, उसमें कई लोग कोशिश करने में भोंपेंगे। जो साहस से काम लेगा, उसे इनाम मिल जाएगा।

बन्धु, लोग अटकलें लगाने लगे हैं—अमुक को मिलेगा, अमुक प्रकार के साहित्य को मिलेगा, अमुक विचारधारा वालों को मिलेगा। उधर से जवाब आता है कि निर्णय निष्पक्ष होगा। मैं कहता हूँ इस मामले में हमें नाई की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। नाई रे नाई, मेरे सिर में कितने बाल? नाई ने निहायत संजोदगी से कहा—'अभी सामने आये जाते हैं।' पहला इनाम साल भर में मिल ही जाएगा। उसी से पता लग जाएगा। और मान भी लिया जाए कि पक्षपात होगा, तो क्या गलत होगा? कोई पैसा भी दे गाँठ से और आप उसे बताएँ भी कि अमुक को दे दो! कोई सार्वजनिक चंदे का पैसा तो है नहीं।

बन्धु, भारतीय लेखक, विशेष कर हिन्दी लेखक विचित्र होता है। वह सर से कफ़न बाँधे रहता है। इसे पैसा नहीं दो तो शिकायत करना है कि लेखक को कुछ नहीं मिलता। और पैसा देने लगे, तो दूर भागता है। पैसे की क्रीमत ही नहीं समझता वह। घोषणा-पत्र में इसी नासमझी को ध्यान में रख कर समझाया गया है कि हे लेखक, तुम्हें पाठक मिलने से उतनी मुसीबत नहीं होती, जितनी पैसा मिलने से। इतना साफ़ समझाने

पर भी कोई न समझे तो वह अभागा है। भई, हम तो हेडमास्टर को 'नमस्ते सर' कहेंगे।

सस्नेह,
ह० शं० प०

ग्यारह

प्रिय बन्धु,

एक लम्बे घरसे से मैंने पत्र नहीं लिखा। इस बीच बड़ी-बड़ी घटनाएँ घट गयी। मेरे जीवन में वह महान् चण आया, जो जिन्दगी में एक-दो बार ही आता है। बहूतो की जिन्दगी में यह इतनी देर से आता है कि इसमें और पिङ्ग-दान में कोई अन्तर नहीं रह जाता। क्या आपका वह चण आ चुका? यानी क्या कभी आपसे लोगो ने आपकी जन्म-तिथि पूछी?

सलतफहमी की भूमिका तैयार हो गयी न। नहीं वह बात नहीं हुई। हुआ यह कि एक दिन मेरे पास २-३ नव तर्ण आये, बिलकुल ताजा, रवे। आते ही मुझसे पूछा, 'आपकी जन्म-तिथि क्या है?' अब मैं इस अप्रत्याशित प्रश्न से अचकचा गया। आप जानते ही हैं कि जन्म-तिथि पूछने के कई प्रयोजन हैं, जिनमें एकाध बहुत भयावह है। एक आयु तक यह प्रश्न बड़ा मोठा लगता है, इसके बाद पूछने वाले को गाली देने का मन होता है। मैं बड़ी उत्तमन में पड़ा। आखिर यह क्यों पूछते हैं? इन्हें कौन-सा तारोख बता दूँ। आप जानते हैं कि प्राचीन ऋषियो से से कर बाबूगिरो के आधुनिक उम्मीदवार तक किसी ने अपनी सही जन्म-तिथि नहीं बतलायी। विरवामित्र तक ने मेनका से अपनी सही उम्र छिपायी थी। मैंने भवपुत्रकों से पूछा, 'आखिर बात क्या है? क्या काम आ गया मेरी जन्म-तिथि से?' उनमें से एक जो सबसे अधिक विनयशील था, बोला, 'जी, बात यह है कि आपको भी लिखते १२-१३

साल तो हो ही गये । आप भी अब सयाने हो रहे हैं । आप कुछ न कहें, पर हम लोग अपना कर्त्तव्य जानते हैं और निभाना भी चाहते हैं ।’

बन्धु, जब मैंने इस संकेत को समझा तब सुख-विह्वल हो गया । वे लोग मेरा जन्म-दिन मनाना चाहते थे; मेरा सम्मान करना चाहते थे । क्यों ऐसा करना चाहते थे ? क्योंकि मुझे १२-१३ साल लिखते हो गये थे और मैं ४० के पास आ लगा हूँ । यह वह अवस्था है, जब लेखक, पाठ्य पुस्तकों में आ जाता है और मदरसे में प्रतिष्ठा पा जाता है । जिसका मदरसे में प्रवेश हो जाए, वह लेखक बड़ा हो जाता है । उसका सम्मान होना ही चाहिए । इधर मेरी एक दो चीजें पाठ्य-पुस्तकों में संकलित हो गयी हैं, जिन्हें उन लड़कों ने पढ़ा होगा । उन्होंने मेरे प्रति अपने कर्त्तव्यों को समझा होगा ।

‘आपको भी तो लिखते १२-१३ साल तो हो ही गये होंगे !’— सोचता हूँ अगर १२-१३ साल चोरी करते हो जाते तब भी, क्या ये लड़के आते और कहते, ‘आपको भी चोरी करते १२-१३ साल हो गये । आप कुछ न कहें, पर हम तो अपना कर्त्तव्य समझते हैं । अपनी जन्म-तिथि बता दीजिए !’ वे तब भी आते । भारत में सब-कुछ उम्र के मुताबिक मिलता जाता है । उम्र पर शादी होती है, उम्र पर वच्चे होते हैं । अगर आदमी ऐसा हुआ जिसका साहित्य राजनीति, जनसेवा या दूकान के माध्यम से जनता से सम्पर्क रहा तो ज्यों ही वह साठ पर पहुँचा कि लोगों ने उसका अभिनंदन किया । कोई पूछे—क्यों भाई अभिनंदन क्यों कर रहे हो ? इन्होंने ऐसा क्या किया है ? कुछ नहीं साहय, साठ के हो गये हैं । यही बड़ा पराक्रम है ! अभिनंदन करके उसे छोड़ देते हैं कि अब तुम्हारी मर्जी पर है कि किस दिन दुनिया छोड़ो ।

एक बार एक नेता के अभिनंदन के लिए जो अपोल निकली, उसमें लिखा था—‘अमुक जी ७० वर्ष के हो गये । इधर उनका स्वास्थ्य भी बहुत गिरता जा रहा है । इसलिए हमारा कर्त्तव्य है कि अविलंब उनका अभिनंदन समारोह आयोजित करें ।’ इसका मुला अर्थ यह हुआ कि

भाइयो, जिस मोर्चे का हम इन्तजार कर रहे थे, वह भा पड़वा । धमुक जो की चलाचली की बेता भा पड़वा । उनके देह-त्याग के पहले उनका अभिनंदन कर डालें, जिससे उनकी आत्मा की छटपटाहट बन्द हो । यों कुछ लोग कहते हैं कि धन धीर सम्मान मोत के इतने धाम न मिल कर पहले मिल जाए, तो जीवन कुछ धीर लम्बा धीर उपयोगी हो जाए । पर इसमें भ्रष्ट है । किसे दें धीर किसे न दें—इस पर झगड़े खड़े होने । उम्र का सूत्र सीधा है । उम्र एक सर्वमान्य उपमर्षि है । उसकी इच्छा में किसी को आपत्ति नहीं ।

वे एक बयोवृद्ध साहित्यकार पर कभी-कभी ध्यान कर देता हूँ । मुझमें कुछ लोगों ने कहा कि ऐसा नहीं करना चाहिए । मैंने समझाया कि वे ऐसे-ऐसे पाखंड खड़े करते हैं, उनके कर्म ऐसे हैं । तो उन नीति-वानों ने जवाब दिया, 'कुछ भी हो । धात्रि वे बयोवृद्ध हैं !' उरा इस नीति पर गौर करो, बन्धु ! कर्म को मनु देखो उम्र देखो । इतना गुलाम हुआ सिद्धान्त, मानव समाज में कैसे चलता है, जिसका हर सिद्धान्त उनका हुआ है ।

मुझे याद आता है—हम स्कूल में पढ़ते थे सब मुहल्ले में एक बूढ़े लालजी भैया रहते थे । वे समय काटने के लिए स्कूल के बच्चों को बुला कर उनके साथ पत्ते खेलते थे । यों उनके दिवस में सभी कहते थे कि वे बहुत निकृष्ट आदमी हैं—शराब पीते हैं, जुमा खेलते हैं, धादि । उन्होंने हमें दाँव लगा कर पत्ते खेलना सिखाया । वे हमें धरावर पैस दे देते धीर दाँव लगवाते । खेल खतम होने पर वे पैस ले लीते । इस तरह हार-जित का धार्मिक पक्ष घामर हो जाना । जूए की प्राथमिक शिक्षा उन्हीं से हम लोगों को मिली । उन्होंने हमें ऐसा उच्च कोटि का गालियाँ भी सिखायी जैसी पुलिस के ज्ञान-कोश में भी नहीं होती । एक दिन उनका 'हृदय असफल' (हार्टफेल) हो गया धीर वे देवताओं के बच्चों को जुमा सिखाने स्वर्ग बुला लिये गये । हाँ, धास बात तो भूल ही गया । एक बार मुहल्ले में किसी प्रसंग में एक समिति बनी धीर सबने एक मत

सालजो भैया को उसका अध्यक्ष बनाया। हम वक्त्रों को बड़ा आश्चर्य हुआ। हमने अपने अभिभावकों से पूछा कि इतने दुरे आदमी को आप लोगों ने यह सम्मान का पद क्यों दे दिया। हमें जवाब मिला, 'कुछ भी हो, वे वयोवृद्ध हैं।' उसी छोटी उम्र से मेरे मन में उम्र के प्रति श्रद्धा पैदा हो गयी और कर्म का स्थान दूसरा हो गया। अब किसी बूढ़े शराबी को देखता हूँ तो उसके प्रति युवक सदाचारी से अधिक आदर पैदा होता है। कुछ भी हो वह वयोवृद्ध हैं। अगर कोई वृद्ध आप को पत्थर मारे और आप उसको रोकें तो दो-चार नीतिवान आपको घेर कर कहेंगे, 'उन्हें कुछ मत कहो।' आप कहेंगे 'पर वह मुझे पत्थर जो मार रहा है।' नीतिवान कहेंगे, 'कुछ भी करें, वे वयोवृद्ध हैं।'

पिछले सालों में कुछ वयोवृद्धों ने तमाम नये साहित्य को कचरा कहने का धंधा उठाया, तो नये लेखकों ने उन पर जवाबी हमला बोल दिया। सब कुछ नीतिवानों ने सलाह दी, 'उन लोगों से कुछ मत कहो; वे वयोवृद्ध हैं।' पौधों को यह हक नहीं है कि वे अपने ऊपर छाये बट-वृक्ष का प्रतिरोध करें। उन्हें उससे कहना चाहिए, 'हे वयोवृद्ध, तुम चाहे हमें न पनपने दो, पर हम तुम्हारा आदर करेंगे। तुम कुछ भी करो; तुम वयोवृद्ध हो। तुम्हारी सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि तुमने जन्म लेने के लिए हमसे पहले का समय चुना।'।

वन्धु, उम्र का क्या अर्थ है? अनुभवों का भंडार और कर्मों का समाहार। इन्हीं का आदर हम करते हैं। जिन्दगी भर घूस लेकर 'रिंटायर' हुए वयोवृद्ध को जब हम सम्मान देते हैं तब यही कहते हैं, 'हे वयोवृद्ध, हम आपके जीवन-व्यापी घूसखोरी के अनुभवों को प्रणाम करते हैं। कुकर्मों का जो ढेर आपने लगाया है, उसका हम आदर करते हैं।'।

आपको क्या यह नहीं लगता कि डाकू मानसिंह के प्रति अन्याय हो गया? मुझे तो कसकता है। डाकू मानसिंह को पुलिस ने ८० वर्ष की अवस्था में मार डाला। यह नीति-विरुद्ध हुआ। धर्म और संस्कृति के रक्षक जो राजनैतिक दल हैं, उन्हें इसके विरुद्ध आन्दोलन करना था।

वे भी कर्त्तव्य भूल गये। उचित यह होता है कि मानसिंह के पास पुलिस का एक प्रतिनिधि भेजल जाता और कहता, 'दस्पुराज, आप बयोवृद्ध हैं। आप १०-१५ डाके धीर डालिए।'

बन्धु, जब मे वे सड़के घाये मेरा विश्वास और दृढ़ हो गया। सब उम्र से होगा—'ममय पाय तरुवर करें केतिक मीची नीर।'।

कर्म से क्या होता है? अगर मैं आगामी २०-२२ वर्ष तक की दूसरी की रचनाएँ चुरा कर अपने नाम से छपाऊँ तो भी माठ सास पूरे होते-होते, ये सड़के (जो तब प्रौढ़ होंगे) फिर मेरे पास आएँगे और कहेंगे, 'आपने चाहे २० वर्षों में सिर्फ साहित्यिक चोरी की हो पर अब आप साठ के हो गये। चलिए, आपका अभिनंदन करें।'।

मित्र, अगर बयोवृद्ध गण इसे पढ़ कर नाराज हों तो उन्हें समझाना कि यह सब उनके पक्ष में ही लिखा है। अपना भी यही पक्ष है। सब अपना भविष्य बनाते हैं।

धीर क्या हाल है? सम्पादक-मंडल के एकमात्र क्वारे [राजा दुवे] के विवाह के उपलक्ष्य में 'कल्पना' को नियमित कर डालो।

सस्तेह!

ह० शं० प०

वारह

प्रिय बन्धु,

उस दिन जब अखबार में पड़ा कि आपके शहर में एक बेचारा गरीब आदमी रहता है, तो आप सब लोगों के प्रति सहानुभूति से मन भर गया। उस गरीब आदमी की कष्ट कथा से दुष्ट चीनियों के कठोर-दिल भी पानी-पानी हो जाएँगे।

चीनी आक्रमण के बाद से अब तक, अजीब चीजें देख रहा हूँ। अमीर गरीब हो गये और गरीब अमीरों जैसा व्यवहार करने लगे।

मजदूरनी ने कान की वाली उतार कर दे दी और सेठानी ने हार देख कर कहा कि हाय, यह नहीं रहा, तो जिन्दा कैसे रहेंगी । जिसे नीचा समझते थे वह ऊँचा हो गया और जिसे ऊँचा समझ रहे थे, वह जाने कैसे सिकुड़ कर बलिशत भर का हो गया । जनता एकदम एक हो कर, बलिदान की भावना से तन कर खड़ी हो गयी । मगर नेता और सिकुड़ गया । पहले जनता ऊँचा मुँह बना कर के नेता की बात सुनती थी; अब जनता को नीचा मुँह करके नेता को देखना पड़ता है ।

बन्धु, अवसर को पकड़ना बड़ी भारी विद्या है । द्वितीय महायुद्ध में 'बने' बूढ़े सेठ ने बेटे से कहा, 'बेटा, मैं उस लड़ाई में बना था; तू इस लड़ाई में बन जाना ।' बेटा योजना बनाने लगा । पैसे वालों ने जब देखा कि 'राष्ट्रीय सुरक्षा कोष' के नाम से फिर हमारे पैसे पर संकट आया तो वे जगह-जगह खुद माँगने वाले हो गये—यानी राष्ट्रीय सुरक्षा समितियों में घुस गये । जो माँगने वाला है, वह या तो देने से बच जाता है या कम दे कर छूट जाता है । जिनसे भारी रकम लेनी थी, जब वे ही याचक बन कर माँगने निकल पड़े, तो अपने वर्ग के आर्थिक हितों की काफ़ी रक्षा हो गयी । कुछ ऐसे दृश्य दिखने लगे—जिससे कम से कम एक हजार की उम्मीद है और जो बड़ी आसानी से इतना दे देगा, उसके पास सधे-बधे माँगने वाले पहुँचे और कहा, 'भैया जी, सौ रुपये से एक कौड़ी कम नहीं लेंगे ।' भैया जी, जो एक हजार तक देने के लिए जी बड़ा कर चुके हैं, यह सुन कर पहले तो खुशी सँभाल नहीं पाते । फिर नाटक करते हैं, 'नहीं, नहीं, साब, सौ बहुत हो जाएगा । आजकल धंधे में क्या रखा है ?' माँगने वाले जोर देंगे, तो वह महान् बलिदान की मुद्रा में सौ का नोट देकर हाथ जोड़ लेगा । वह मन ही मन कहेगा, 'अपने ही लोग माँगने वाले हैं तो नौ सौ बच गये !' इस तरह मध्यम वर्ग और मजदूर वर्ग को बचाने वाले कोई नहीं थे । वास्तव में, इन लोगों ने देश-रक्षा के काम में किरायात करने की कल्पना भी नहीं की ।

जगह-जगह जो समितियाँ बनीं, उनमें वे लोग प्रमुख रूप से शामिल हुए, जो दूसरे महायुद्ध में अंग्रेज सरकार की 'वार फ्रंट कमेटी' में थे। इस सरकार की 'वार फ्रंट कमेटी' बनी, तो इसमें भी वे हैं। और अगर चीन का क्रुद्ध हो जाए (जो कभी नहीं, कभी नहीं होगा) तो वे उसकी 'वार फ्रंट कमेटी' में भी हो जाएंगे और कहेंगे, 'साब, हम उन लोगों में नहीं हैं जो बार-बार अपने सिद्धान्त बदलते हैं। हम तो शुरू से सरकार के साथ थे सो घब हैं। अंग्रेज सरकार थी, तो हम उसके साथ थे फिर देशी सरकार बनी, तो हम उसके साथ भी थे। और अब आप भाये हैं, साब, तो हम आपके साथ भी हैं। हम सिद्धान्त के पक्के हैं, साब !'

एक जगह से जब हम दस रुपये राष्ट्रीय सुरक्षा कोष के लिए ले कर चलने लगे, तो देने वाले ने दूसरे से कहा, यहाँ तो यह लगा ही रहता है। कभी दुर्गा-पूजा का चन्दा, कभी गणेशोत्सव का, कभी ये !'

जिसके घर में हजारों तोले सोना है और जिसकी पत्नी चलता-फिरता सराफ़ा बाजार है, वह एक तोला ले कर सुरक्षा-कोष में देता है और फ़ौरन अखबार की तरफ़ भागता है कि दूसरे दिन 'स्तुत्य' दान' के नीचे नाम छप जाए !

मगर बन्धु, यह सब कहना खतरनाक हो गया है। आप कहें, तो आरोप लगा देंगे कि यह एकता भग करता है, वर्ग-द्वेष पैदा करता है—यह 'गद्दार' है ! यह शब्द खूब जवान पर चढ़ा है। यदि कोई सौदा लेने जाए और दूकानदार कम तोले, तब यदि ग्राहक कहे, 'यार, पूरा तोलो। डंडो क्यों मारते हो ?' दूकानदार हल्ला मचा सकता है, 'यह गद्दार है।' भीड़ इन्ट्री हो जाएगी। जगह-जगह डंडी मारी जा रही है और इसकी तरफ़ इशारा करने वाला 'गद्दार' कह दिया जाता है।

इधर मैंने एक बहुत बड़े नेता का भाषण सुना। अखिल भारत में वे दूसरी श्रेणी के नेता होंगे। प्रचारित हुआ था कि वे चीनी आक्रमण का विश्लेषण करेंगे, भारतीय जनता के कर्तव्य बतलाएंगे और इस संदर्भ में जनमत को शिथिल करेंगे। मैं बड़ी आशा से सुनने गया।

विचारों में भाग्य ही रहा था। मैं कह रहे थे, 'चीन में मैं मी होती हूँ, मैं चीन, मैं हूँ। मैं ही अपना रहना है। और चीन को खोद में डक ला जाते हैं, बुनाया जाते हैं। मैं ही बनूँ; मैं जाने क्या-क्या माने रहने हूँ।' आज्ञा और माफ़ी समझदार जनता की इस तरह के विचारों और प्रवृत्ति का रहे थे। मैंने तब तक कई भाषण सुने हैं और मेरा सभी तक सुनाया कि मैं मुझों में सोचने हूँ, जब पूर्वता के परम विन्दु पर पहुँचने हैं मेरी भावना बदल गया। मैं चीन में परम विन्दु खूने हूँ। मैं जहाँ प्रयास सागर है वहाँ गया विचार समझा कि यहाँ हम छोटे कम करके और यहाँ पाँच छोटे अधिक महत्त्व !

चीन से मड़ने की तैयारी का पहला कदम क्या हो ? मेरी प्रवृत्ति के अनुसार पहले यह तय हो जाना चाहिए कि सबसे पहले चीन के इस इलाके की योजनाओं किनसे हो थी। पत्नीसों आदमों कह रहे हैं कि देखो, हमने पहले ही आगाह कर दिया था। कोई कहता है, मैंने मन्'६० में ही चिंतायनी दे दी थी। दूसरा कहता है, मैंने मन्'५६ में कह दिया था। तीसरा कहता है, मैंने तो मन्' ५० में बताया दिया था। और चौथा कहता है कि मैं तो बचपन में ही कहता था कि देखो, एक दिन चीन हमला करेगा। वन्धु, चीन की लड़ाई से बड़ी लड़ाई यह है कि किसने पहले कहा था। इसका निर्णय कैसे हो ? मैं सोचता हूँ कि कागज के टुकड़ों पर कहने वालों के नाम लिख कर किसी बच्चे से एक टुकड़ा उठवा लिया जाए। जिसकी किस्मत जोरदार होगी, उसे श्रेय मिल जाएगा और तब हम चीन से लड़ने की तैयारी करेंगे।

सब दलों के नेताओं के मुँह से दो वाक्य सुनता हूँ—(१) हमें मत-भेद भुला कर एक हो जाना चाहिए और; (२) इस समय किसी दल को अपने हितों को आगे नहीं बढ़ाना चाहिए। ये बड़े अच्छे उद्गार हैं। लेकिन इन दो वाक्यों के बाद के जो १०० वाक्य होते हैं, वे भेद डालने वाले और अपना हित आगे बढ़ाने वाले होते हैं। इसलिए जब मैं किसी श्रीमुख से ये वाक्य सुनता हूँ, तो समझ जाता हूँ कि इनका मतलब है

कि हम भेद डाल रहे हैं, मगर तुम मतभेद भुला दो। घोर यह कि हमारे सिवा कोई घोर अपने हित भागे न बड़ाए। सिर्फ हमें अपने हित भागे बढ़ाने दो।

बन्धु, इस हल्ले के बीच जब सुनता हूँ कि राष्ट्रीय एकता हो गयी तो सोचता हूँ कि जनता तो एक हो गयी, मगर नेता घोर बिखर गये। पक्को एकता अगर किमी की हुई, तो वह है, प्रतिक्रियावादी की। इसे राष्ट्रीय एकता कहना चाहो तो कहो।

बहुत लोग ऐसी बोखलाहट से सरकार को गाली देते हैं, गोया, यह देश केवल सत्तापारी दल का है घोर चीन से उमी की लड़ाई हो रही है। मुझे एक सेठ की कहानी याद आती है। सेठ की दूकान के भाषपास उसके कुछ दुरमन रहते थे। वे उमकी दूकान में भाग लगाना चाहते थे। सेठ ने एक चौकीदार रख लिया था। एक रात किसी ने आ कर सेठ से कहा कि तुम्हारी दूकान में कोई भाग लगा रहे हैं। सेठ ने कहा—मैंने चौकीदार तो रख दिया है। अगर भाग लग गयी तो चौकीदार को निकाल दूँगा। फिर किसी ने आ कर कहा कि सेठ, दूकान जल रही है; जा कर बुझाओ। सेठ ने कहा—मेरा चौकीदार वहाँ है। अगर दूकान जली, तो उसे नौकरी से निकाल दूँगा। दूकान स्वाहा हो गयी। चौकीदार भी निकल गया। दूकान ही नहीं बची, तो चौकीदार क्या करेगा! इस समय चीनी आक्रमण के संदर्भ में बहुत लोग चौकीदार को बरखास्त करने में अधिक रुचि ले रहे हैं—भाग बुझाने में कम।

पण लम्बा होता जा रहा है। मगर एक जरूरी बात तो लिखूँगी ही। कुछ देशभक्तों को यह लग रहा है कि गाँधी जी की हत्या करने वालों को जेल से रिहा कर दिया जाए, तो चीन को हटाना आसान हो जाएगा। इसी खास मौके पर उनको रिहाई की माँग करना इस बात का सबूत है कि राष्ट्र-पिता के हत्यारों की सहायता के बिना राष्ट्र मजबूत नहीं होगा। मेरा तो विचार है कि चोर-डाकुओं को भी रिहा कर दें जिससे नागरिक सुरक्षा अपने भाव हो जाएगी।

हो सकता है, आपके विचार दूसरे हों। पर चिट्ठी लिखना, और मन की बात लिखना मेरा फर्ज है। सो लिखो।

आशा है, सब कुशल-मंगल है।

सस्नेह,
ह० शं० प०

तेरह

प्रिय बन्धु,

पिछले अंक में कैलाश वाजपेयी की चीनी आक्रमण के संदर्भ में रचित कविता पढ़ी। अच्छी लगी। युद्ध की पृष्ठ भूमि पर रचित साहित्य के सम्बन्ध में आपकी टिप्पणी भी पढ़ी।

मैं खुद कई दिनों से सोच रहा हूँ कि मैं क्या करूँ। सुनता हूँ कि अमुक ने एक सप्ताह में ही दस कविताएँ, सात लेख लिख डाले। रोज़ ही अगणित चीन-विरोधी और राष्ट्रवादी कविताएँ, लेख, कहानियाँ पढ़ता हूँ। और तब सोचता हूँ कि मैं फिसड्डी हमेशा रहा—मैंने अभी तक सिर्फ़ दो कहानियाँ और ५-६ स्तम्भ लिखे हैं लेकिन इनमें भी वे जोरदार शब्द नहीं आये, जो अन्य की रचनाओं में हैं जैसे गद्दार, नीच, कमीने, अफ़्रीमची, बदमाश, धोखेबाज़ आदि। एक कवि कहता है—दुष्ट चीनी, हम तुम्हें चीनी (शक्कर) बना कर चाय में घोल कर पी जाएँगे। दूसरा कहता है—हम पैकिंग पर तिरंगा गाड़ देंगे। (विजयी विश्व तिरंगा प्यारा!) तीसरी कविता में कहा गया है—साले अफ़्रीमची हम तुम्हें अफ़्रीम खिला कर मार डालेंगे। कल मैंने 'उग्र' की कविता पढ़ी जो आरम्भ होती है 'के बले माँ तुम अबले से' और आगे 'बलवूते' जैसी तुकों की मजदूरी के कारण यह लिखा गया कि तेरे डर से वैरी 'मूते'! मुझे एक चिट्ठी मिली है कि हम लोग चीनी आक्रमण के 'उपलक्ष' में एक पुस्तक निकाल रहे हैं; आप भी इसमें एक रचना छपा लीजिए।

बन्धु, युद्ध आया, तो युद्ध-साहित्य अवश्य लिखा जाएगा। पर अगर चीन से अपनी दुश्मनी ५ साल चली, तो हर साहित्यकार को कम से कम १०० रचनाएँ तो हो ही जाएँगी। मगर सौ रचनाओं के लिए गालियाँ हम कहाँ से लाएँगे ? या हम वीर हैं और शत्रु का नाश कर देंगे, यह कितनी तरह से कह सकेंगे ? और जब कोई युद्ध की पृष्ठभूमि पर लिखा गया हमारा साहित्य देखेगा, तो उसमें गाली और वीर वाक्य के सिवा और क्या पाएगा ?

चीन ने आक्रमण किया, तो साहित्यकार पर विभिन्न प्रकार से प्रतिक्रियाएँ हुईं। क्रोध सब को आया, घृणा भी पैदा हुई। साथ ही राष्ट्र-गौरव और राष्ट्र-शक्ति की चेतना बहुत तीव्र हुई। यह तो सब को समान ही हुई। अभिव्यक्ति के रूप और प्रयोजन में बहुत विभिन्नताएँ आयी। एक तो भारतीय साहित्यकार और, विशेषकर, हिन्दी वाला बहुत ही भीला होता है। उसके पास 'आत्मा' नाम की एक ऐसी चीज होती है, जो सब कुछ सहज कर देती है। उसकी आत्मा में जो सहज उठ आता है, वह सत्य होता है। अब मुश्किल यह है कि कभी-कभी अशिष्टा ही आत्मा बन जाती है; कभी स्वरक्षण का छिपाव भी आत्मा का रूप ले लेता है, कभी-कभी आत्म-छल आत्म-ज्ञान बन जाता है। कभी अन्तरवाद भीतर बैठ कर बोलता है और हम समझते हैं कि यह हमारी शुद्ध आत्मा बोल रही है। यह 'आत्मा' बहुत घबिस्वसनीय चीज है। एक तो यह बाहर नहीं देखने देती है और भीतर, न जाने क्या-क्या बातें सुभाती रहती है।

तो आत्मा ने कहा—क्रोध और घृणा ! फिर कहा—राष्ट्र महान् है। साहित्यकार ने यह सब गह लिया और ठीक-गह लिखा। साधारण आदमी के मन में भी यहो सब उठा और इसे उठाना चाहिए। मगर इसके बाद, अशिष्टा ने आत्मा को दबाया और कहा कि अब मैं बोलूँगी। बोली—कि चीन धर्म नहीं मानता और भारत धर्म मानता है, इसलिए यह धर्म-युद्ध है। धर्म के नाम पर अपना देश न्योपार होता है। धर्म के नाम पर

विधवाओं को बेचने से ले कर दंगे तक हम कर लेते हैं । धर्म से जो बात उठी, तो कई लेखकों को एकदम ईश्वर याद आने लगा । उन्हें लगा कि चीन से लड़ना है, तो अपनी तरफ ईश्वर होना ही चाहिए । एक चीज है, जो चीन के पास नहीं है और अपने पास है । बंधु, काफ़ी लेखक धर्मोन्मुख और ईश्वर-शरणागत हो गये हैं ।

अशिच्चा ने आत्मा बन कर फिर कहा कि चीन ने हमला किया और चीन समाजवाद मानता है । (साम्यवाद ही कह लो) तो समाजवाद बुरा हुआ और राष्ट्र-प्रेम का सीधा मतलब समाजवाद-विरोध हुआ । भोले लेखक को विश्वास हो गया कि सारे संकट की जड़ यही समाजवाद है क्योंकि चीन ने समाजवादी होने के कारण ही हमला किया है । बंधु, राष्ट्र-प्रेम का मतवाला लेखक उस सब का विरोधी हो गया, जो शोषण समाप्त करता है, मनुष्य को न्याय दिलाता है, पूँजी के अत्याचार समाप्त करता है । मैं सोचता हूँ कि अगर ब्रिटेन से ऐसा ही भगड़ा होता तो क्या 'आत्मा' यह कहती कि प्रजातंत्र मुर्दावाद ! प्रजातंत्र ही सब भगड़ों की जड़ है । चीनी आक्रमण ने जीवन भर समाजवादी रहे लेखक का मूल सिद्धान्त पर से ही विश्वास उठा दिया । उसने प्रतिक्रियावाद को राष्ट्रीयता समझ लिया और मयूर की तरह नाचने लगा । मैंने कहा न, लेखक बेचारा बड़ा ही भोला है—उसने इसे 'आस्था का संकट' (क्राइसिस ऑफ़ फ़ैथ) कहा और इस गर्व से कहा कि अब हम पश्चिम के लेखक की बराबरी पर आ गये । उसकी आस्था पर संकट है, तो क्या हमारी आस्था पर नहीं है ?

फिर कुछ लोगों के भीतर मे आत्मा बोली । इस बार वह उन लोगों के भीतर से बोली जो अब ऊँचे पदों पर या अच्छे धंधों में हैं, पर किमी समय प्रगतिशील आंदोलन में प्रमुख रूप से शामिल थे । भारत में अच्छी नौकरी लगने या अच्छा धंधा जमाने तक हर बुद्धिमानी क्रांतिकारी होता है । इसके बाद वह अंग समेटने में लग जाता है । आधी जिदगी क्रांति का विगुन फूँकने में जाती है और शेष आधी कैफ़ियत देने में कि नहीं.

में बैसा नहीं है। बन्धु, असली संकट में यही लोग पड़े। आत्मा ने कहा—
 भरे बाप रे ! साम्यवादी चीन ने हमला किया है। हम कभी जनता की
 क्रांति की बात करते थे। अपने पोछे वह कलंक लगा ही है। वहाँ इस
 समय वह बात फिर उठी तो ? इस आर्तनाद को भी आत्मा को भावाज
 समझा गया। और तब सफ़ाई का साहित्य लिखा गया कि भरे भाई,
 हम वे नहीं हैं। वह सब बहुत बुरा है। समाजवाद बुरा, आर्थिक न्याय
 की बात धोखा, जनता का नाम सिर्फ़ एक नारा ! देखो, हम तो शुद्ध
 प्रतिक्रियावादी हैं। अब हमारे राष्ट्रीय होने में क्या शक है ? चीनी
 आक्रमण के बाद जो भूपाटे से कारखानों से कविताएँ, लेख -
 निकले, उनका यही मकसद था। यह भी आत्मा की ही भावाज है।
 जब तक कोई आन्दोलन अपने को लाभ पहुँचाए, सब तक उसमें रहना,
 चाहिए और जब उस विश्वास के कारण थोड़ा नुकसान उठाने का मौक़ा
 आ जाए, तो भट्ट दूर हो कर उस सब को बुरा कहना चाहिए। अगर
 ऐसा करने वाला बुद्धिमान् हो, तो वह इस शुद्ध अवसरवाद को एक
 ठोस दर्शन दे कर उसे बंदनीय भी बना सकता है।

एक 'तीक्ष्ण-स्थोहारवादी' लेखक होता है, जो दिवाली भाने पर
 दीपोत्सव पर लिखता है और सूरदास को जयन्ती पर लिखता है—
 'भारत में फिर से आ जा कवि सूरदास प्यारे।' स्थितिमाँ इसके लिए पर्व
 बन कर आती हैं—राखी है, वसंतोत्सव है, होली है और चीनी आक्र-
 मण है। कोई पर्व उसमें बिना लिखे बच नहीं सकता। इस लेखक-वर्ग से
 न कुछ ठोस की उम्मीद करना चाहिए, न उससे शिकायत करना चाहिए,
 पर्व आया है और पत्र-पत्रिकाएँ इस तरह की चोज़ें छाप रही हैं, तो वह
 लिखेगा।

लेकिन बन्धु, वैसे घोर सफल लेखकों से आप प्रश्न उठार पूछ सकते
 हैं कि भाई हमने सुम्हारी और भी रचनाएँ पढ़ी हैं। यह एक मूढ़ को
 पृष्ठ-भूमि पर भी पढ़ी। क्या कारण है कि यह रचना उनसे बहुत हलकी
 पड़ती है ? क्या इस सत्य को तुमने उतनी तीव्रता से अनुभव नहीं किया

जितनी तीव्रता से उन रचनाओं के सत्य को ? मसलन तुमने कुंठा को बहुत अच्छी कविताएँ लिखी हैं। क्या कुंठा तुम्हारे लिए अधिक अनुभूत सत्य है और चीनी आक्रमण बहुत कम ?

बन्धु लेखकों ने युद्ध देखा नहीं है। न उर्वसियम देखा, न लद्दाख। जैसे यूरोप के कई लेखकों ने प्रथम और विश्व-युद्धों में लड़ाई में भाग लिया या युद्ध के संवाददाता के रूप में कार्य किया, वैसे अपने यहाँ तो मौका आया ही नहीं। जब देश पर आक्रमण हुआ तो युद्ध की पृष्ठभूमि पर लिखना जरूरी हुआ। बेचारे ने समझा कि युद्ध की पृष्ठ-भूमि का मतलब है सिर्फ गोली चलाना, सिपाही का मरते-मरते भी चार दुश्मनों को मारना, सिपाही को बीबी का गर्व करना कि मेरा पति देश के लिए शहीद हुआ। ये सब बातें यों ठीक हैं। पर इनसे बाहर न लेखक ने देखा, न उसका मानस इनसे आगे कुछ अनुभव कर पाया। चीनी आक्रमण ने एक झटका देकर देश के नागरिक को उठा दिया। उसके जीवन क्रम में और मनःस्थिति में आश्चर्यजनक परिवर्तन हो गये। गृहिणी कफ़ायत करके सुरक्षाकोष में देती है, वधू आभूषणों को देश लिए त्यागती है, बच्चे चीनी और भारतीय टोली बनाकर खेलते हैं, भजन मंडलियों ने अपने भजनों में चीनी आक्रमण को समाविष्ट कर लिया है, दफ़्तर में देर से पहुँचने वाला काम चोर अलाल मुंशी समय से पहले पहुँचने लगा है। कितनी ही बातें हैं, जो आसपास हो रही हैं, उर्वसियम में नहीं हो रही। अगर लेखक को लगता है कि यह सब कुछ नहीं—गोली चलाना ही युद्ध-साहित्य का विषय है। अब कृष्णचन्द्र (जो उर्दू में 'क़श्नचंदर' हैं) तो कश्मीर में रहे हैं, तो बफ़्रीली घाटियाँ बम्बई में बैठ कर भी दिख जाती हैं। इन घाटियों में गोली चलवाना और मरते हुए सिपाही से बीरोक्तियाँ कहलाना आसान है। मगर हमें तो बफ़्रीली घाटियाँ गोला-बारी और सिपाही सभी नये हैं। अब अगर हम मात्र इसी को युद्ध-साहित्य का विषय मानें तो काफ़ी पोची रचना निकलेगी। यह एक दौर था, जो निकल जा रहा है। गोलाबारी और बीरोक्ति के दायरे से

बाहर भव हम आने लगे हैं। मगर चीन से शिकायत का काव्य अभी उसी गति से चल रहा है—धोखेबाज, तूने भाई के साथ दगा किया। उसे कब तक रोएंगे ?

बन्धु, कही यह न समझ लेना कि इस संदर्भ में कुछ ठोस लिखा ही नहीं गया। कुछ रचनाएँ बहुत ठोस हुई हैं। पर अधिकांश घर से अन्ध-वार के दफ्तर जाते हुए रास्ते में लिखी गयी हैं। हमें जल्दी ही गोला-वारी, ग्लानि और विरोक्ति से आगे बढ़ जाना चाहिए, वरना युद्ध-साहित्य की रचना सिखाने के लिए भी कहीं कोई अमरीकी या ब्रिटिश 'मिशन' भारत न बुलाना पड़े।

आजकल मैं तो 'भाल्हा' पढ़ रहा हूँ। बीर-काव्य है, बहुत उत्तेजक मेरे एक मित्र ने बताया है कि उनके गाँव में चौपाल पर 'भाल्हा' हो रहा था। ज्योही घावक ने पढ़ा 'जिनके बीरी सम्मुख बैठे, तिनके जीवन को धिक्कार। त्योंही एक आदमी उठा और तलवार खींच कर सामने वाले का सिर काट लिया। वह उसका बीरी या और 'जिनके बीरी सम्मुख बैठे, तिनके जीवन को धिक्कार।' मैंने कहा—तब तो सारे देश में 'भाल्हा' का पाठ कराए तो बीरता का एकदम ज्वार आ जाए। मेरे दोस्त ने कहा—पर उसमें एक खतरा है। जब पढ़ा जायगा 'जिनके बीरी सम्मुख बैठे तिनके जीवन को धिक्कार।' अब श्रोताओं में से स्वतंत्रों कांग्रेसी का गला घोटेंगा जनसंघी साम्यवादी की गर्दन नापेंगा और प्रजा-समाजवादी तथा समाजवादी एक-दूसरे की गर्दन की पकड़ कर कहेंगे कि हम विजयन की धार्ता कर रहे हैं। इस सम्भावना को कल्पना करके मैं घबड़ा गया। 'भाल्हा' का पाठ होने लायक वातावरण देश में नहीं है। मैं भी अब 'भाल्हा' पढ़ता हूँ, तो देख लेता हूँ कि आसपास कोई मुन तो मढ़ी रहा है। अपनी गर्दन सबको प्यारी होती है।

यहाँ सब ठीक चल रहा है। वहाँ भी पहले से ठीक है क्योंकि पत्रिका समय पर निकलने लगी है।

सन्नेह,

६० शं० ५०

चादह

प्रिय बन्धु,

मैं इन दिनों हिन्दी के बारे में ही सोचता रहा हूँ। हिन्दी—मेरी मातृभाषा, मेरी राष्ट्र-भाषा, मुझे रोटी दिलाने वाली भाषा। 'निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति कौ मूल—' भारतेन्दु ने कहा था। सुभाषित तो मुझे बहुत याद आते रहे हैं। तुलसीदास ने प्रतिगामी संस्कृत-भवतों से कहा था—'संसकिरित है कूप जल भाषा बहता नीर।' और कबीर ने 'प्रेम' से सारा झगड़ा ही खतम कर दिया था—'का भाषा का संसकिरित प्रेम चाहिए साँच।' बन्धु, संस्कृत और 'भाषा' यानी लोक-भाषा में से लोकभाषा को बुद्धिमानों ने ४-५ सौ साल पहले ही चुन लिया था। पर मैं अभी भी कुछ लोगों को कहते सुनता हूँ कि संस्कृति को राष्ट्र भाषा बना दिया जाए। बन्धु, ये तुलसी-कबीर के पहले के लोग, अगर इनका वश चले तो, सचिवालय में यज्ञ-वेदी बनवा दें और हम सबको लंगोटी लगा कर घुमाएँ।

सुभाषित अभी भी सुनता-पढ़ता हूँ। कुछ नमूने आप भी देखें—

१. 'हिन्दी में दो ही ग्रंथ तो हैं—रामचरित मानस और रेलवे टाइम टेबल।'

—'लिक' साप्ताहिक में छपे एक तमिल 'विद्वान' के पत्र में यह सूक्ति मुझे मिली।

२. 'हिन्दी में छः ठो जासूसी उपन्यासों और छः ठो यौन उपन्यासों के सिवा और है क्या?'

—यशपाल से बंगला के एक बड़े सम्पादक ने कहा। जब यशपाल ने कहा कि अच्छा, आप एक भी हिन्दी उपन्यास का नाम बताइए, तो विद्वान् सम्पादक ने जवाब दिया—'हम बोला न, हम तो पढ़ा नई। जो सुना सो बोलता।'।

३. 'अंग्रेजी के हट जाने से राष्ट्र खंड-खंड हो जाएगा और दक्षिण

पर हिन्दी का साम्राज्यवाद प्रसारित होगा ।'

—राजगोपालाचारी, जो अणु-बम से लेकर छाय के टीको तक, सब विषयों के विशेषज्ञ हैं !

हिन्दी विरोधी सूक्तियों की गिनती नहीं की जा सकती । अब जरा हिन्दी नेताओं के तर्क देखिए ।

१. 'जिस भाषा में मूर और तुलसी हैं, उस हिन्दी के सिवा और कौन राष्ट्र-भाषा हो सकती है ।'

१०० में से ६० हिन्दी-भक्त इसे बड़ा प्रबल तर्क मानते हैं और इसे कह कर आस-पास देखते हैं कि हिन्दी विरोधी ढेर हुए कि नहीं । तब कोई बंगला भक्त उठ कर कहता है—'जिस भाषा में रवीन्द्रनाथ नेई हुमा, वह राष्ट्र-भाषा कैसे हो सकती है ? आमा सोनार बागला ।' हिन्दी भक्त सहम जाता है । हाँ यार, रवीन्द्रनाथ तो सचमुच बंगला में हुए थे ।

२. 'मे तो कहता हूँ कि जो हिन्दी का विरोध करता है वह राष्ट्र-द्रोही है ।'

सबसे बड़े हिन्दी-नेता के मुँह से मैंने यह वाक्य प्रवामी बंगला सम्मेलन में सुना ।

३. 'बंकिमचन्द्र बनर्जी, शरच्चन्द्र मुकुर्जी, काजी नजरुल मुमलमान और खलील जिशन आदि बंगाली के महान लेखकों ने कहा था कि हिन्दी भारत की राष्ट्र-भाषा होगी तब मैं छोटे-छोटे बंगाली हिन्दी का विरोध क्यों करते हैं ।

एक हिन्दी नेता ने अपने अविस्मरणीय भाषण में कहा और इस ताली भी पीटी ।

बन्धु, जब संविधान बना था और हिन्दी को उसमें प्रतिष्ठा मिल गयी थी, तब हिन्दी के साहित्यकार तां सयत रहे थे, पर हिन्दी के नेताओं ने काज़ी घमाचौकड़ी मचायी थी । उस दौर में, मुझे भी लगने लगा कि सचमुच हिन्दी वाले 'अटक से कटक' और 'काश्मीर से कन्याकुमारी तक' घोगा-भुरती मचा कर सबसे हिन्दी बनवा लेंगे । उस वक़्त कोई

अहिन्दी भाषी पूछता, 'तोम हिन्दी वाला ?' तो हम तन कर कहते, 'हाँ, हाँ, हम हिन्दी वाला ! गड़बड़ मत करना ।' और अब, मित्र, यह हाल हो गया है कि कोई अहिन्दी भाषी पूछता है, 'तोम हिन्दी वाला ?' तो हम हाथ जोड़ कर, सिर झुका कर कहते हैं, 'हाँ साहब, अगर आप माफ़ करें, तो हम हिन्दी वाला ।' बन्धु, आज जो हमारी हालत हो गयी है, उसके लाने में 'हिन्दी वीरों' को कुछ कम ज़िम्मेदारी नहीं है ।

बन्धु, हिन्दी वालों ने व्यवहारिक मामला, जो अर्थ और राजनीति से जुड़ गया है, भावुकता से हल करना चाहा—'जय हिन्दी, जय हिन्दी माता, हे जननी !' अच्छे आजीवन मार्क्सवादी जो 'वैज्ञानिक दृष्टि' की कसमें खाते हैं, 'हे' और 'हाय' के लहजे में हिन्दी का पक्ष-समर्थन करते रहे हैं । हिन्दी का मसला गो माता का मसला हो गया । ये भक्त नीटंको के धरमदास लगते थे, जिसने 'धरम' पर जान दे दी—'धरम के कारने जी धरमदास ने देखो जान गवाई—धरम के कारने जी....गड़-गड़-गड़-गड़-गड़ गड़-गड़ ! (नगाड़ा)' इनमें से अधिकांश हिन्दी-भक्तों के बेटे और बेटो हिन्दी नहीं पढ़ते, वे अंग्रेजी पब्लिक स्कूल में अंग्रेजी पढ़ते हैं और घर में भी माँ-बाप से अंग्रेजी बोलते हैं । बड़े-बड़े हिन्दी लेखकों के बेटे-बेटो 'डेडो-ममी' करते हैं । अगर आप सूची बनाना चाहें, तो मैं ही ८-१० नाम बता सकता हूँ । मैंने देखा कि हिन्दी से रोटी और यश कमाने वाला पिता, जो बाहर हिन्दी के लिए हाय-हाय करता है, अपने बेटा-बेटो को हिन्दी से अनभिज्ञ और भारतीयता से शून्य देखता है, तब बहुत गर्व का अनुभव करता है—हमारे बच्चे गवाराँ की तरह हिन्दी नहीं सीखते ! बन्धु, इसी तरह इन चार हिन्दी राज्यों के मंत्रियों और सचिवों और ऊँचे अफसरों के बेटा-बेटो भी अंग्रेजी स्कूलों में ही अंग्रेजी माध्यम से पढ़ते हैं । विधान सभा में शिक्षा मंत्री वक्तव्य देते हैं कि हमने हिन्दी स्कूलों को ऐसी उन्नति कर दी मगर मंत्री जीअपने बच्चों को इन 'उन्नत' स्कूलों में नहीं भेजते । क्या कारण है ? जैसा मैंने सन् १९५८ में 'बसुधा' के एक सम्पादकीय में लिखा ।, (अपनी ही उक्ति का उद्धरण सिर्फ़ माचवे ही नहीं देते, मैं भी दे लेता हूँ)

अंग्रेजों में एंजोनियर बनता है और हिन्दी में पटवारी। उच्च वर्ग का आदमी अपने बेटे को एंजोनियर बनाएगा और निम्न मध्यम वर्ग का आदमी पटवारी। बन्धु, इस भयंकर मित्याचार में हिन्दी वाले भी तो फँसे हैं और तब दक्षिण वाला सोचता है कि अगर हिन्दी से ही ऊँची नौकरी मिलेगी, हिन्दी पत्रकारिता से ही जीविका चलेगी, हिन्दी से ही ऊँची शिक्षा मिलेगी, तब मेरा क्या होगा ? इस मौक़े पर राजनीतिक नेता प्रकट होता है और मामले को हाथ में ले कर उलझाता जाता है।

बन्धु, व्यावहारिक सुविधा, भ्रम और राजनीति का मसला है यह। मगर इसमें प्रेम और धृष्टा की भावुकता भा गयी है। डॉ० रघुवीर ने इसे हिन्दू साम्प्रदायिकता का रूप ही दे दिया। उन्हें अनसुख का अध्यस्त होना था। उन्होंने रूढ़ व्यावहारिक शब्दों को आर्य समाज मन्दिर में ले जा कर उनका शुद्ध संस्कार किया और फ़कीरेलाल वहाँ से जगत्कार हो कर निकला। हिन्दी विरोधियों ने इस 'रघुवीरी' नाम से जानी जाने वाली शब्दावली को ले कर हिन्दी भाषा का कितना उपहास किया है। उपहासकर्त्ताओं में से अधिकांश ने वे शब्द-कोश देखे तक नहीं होंगे। उनमें सब कुछ निरर्थक नहीं है, वाक्की थम का भी है। मगर रेल, टाई, टेबल—आदि के पर्यायवाची शब्द ले कर खूब मजाक उड़ाया गया। विद्वानों ने भी ऐसा किया अंग्रेजी आचार्य प्रोफ़ेसर देव का मैंने एक भाषण सुना जिसमें वे हिन्दी का मजाक यह कह कर उड़ा रहे थे कि हिन्दी में 'नकटाई' को 'कठ लगोट' कहते हैं। ठेठ सड़क छाप बात विद्वान ने कही। मजा यह है कि यह बहुचर्चित, उपहाससाधक 'कठ लगोट' शब्द उस अभागे रघुवीर के शब्द-कोश में नहीं है। मगर मजाक के लिए चल रहा है गर्व ज्ञान का होते देखा है। मगर हिन्दी के मामले में अज्ञान गर्व का विषय हो गया है। 'हम तो हिन्दी पढ़ा नेई' गर्वपूर्वक कहा जाता है। भारतीय साहित्य के अंग्रेजी व्याख्याताओं का अज्ञान तो बहुत ही भयंकर कुछ महीने पहले अंग्रेजी में भारतीय लेखक कुशवत सिंह ने एडिनबरा के सम्मेलन में भारतीय साहित्य पर जो भाषण दे मारा, उसमें सिर्फ़,

अहिन्दी भाषी पूछता, 'तोम हिन्दी वाला ?' तो हम तन कर कहते, 'हाँ हाँ, हम हिन्दी वाला ! गड़बड़ मत करना ।' और अब, मित्र, यह हाल हो गया है कि कोई अहिन्दी भाषी पूछता है, 'तोम हिन्दी वाला ?' तो हम हाथ जोड़ कर, सिर झुका कर कहते हैं, 'हाँ साहब, अगर आप माफ़ करें, तो हम हिन्दी वाला ।' बन्धु, आज जो हमारी हालत हो गयी है, उसके लाने में 'हिन्दी वीरों' की कुछ कम जिम्मेदारी नहीं है ।

बन्धु, हिन्दी वालों ने व्यवहारिक मामला, जो अर्थ और राजनीति से जुड़ गया है, भावुकता से हल करना चाहा—'जय हिन्दी, जय हिन्दी माता, हे जननी !' अच्छे आजीवन मार्क्सवादी जो 'वैज्ञानिक दृष्टि' की कसमें खाते हैं, 'हे' और 'हाय' के लहजे में हिन्दी का पक्ष-समर्थन करते रहे हैं । हिन्दी का मसला गी माता का मसला हो गया । ये भक्त नौटंकी के धरमदास लगते थे, जिसने 'धरम' पर जान दे दी—'धरम के कारने जी धरमदास ने देखो जान गवाई—धरम के कारने जी....गड़-गड़-गड़-गड़-गड़ गड़-गड़ ! (नगाड़ा)' इनमें से अधिकांश हिन्दी-भक्तों के बेटे और बेटो हिन्दी नहीं पढ़ते, वे अंग्रेजी पब्लिक स्कूल में अंग्रेजी पढ़ते हैं और घर में भी माँ-बाप से अंग्रेजी बोलते हैं । बड़े-बड़े हिन्दी लेखकों के बेटे-बेटो 'डेडो-ममी' करते हैं । अगर आप सूची बनाना चाहें, तो मैं ही ८-१० नाम बता सकता हूँ । मैंने देखा कि हिन्दी से रोटी और यश कमाने वाला पिता, जो बाहर हिन्दी के लिए हाय-हाय करता है, अपने बेटा-बेटो को हिन्दी से अनभिज्ञ और भारतीयता से शून्य देखता है, तब बहुत गर्व का अनुभव करता है—हमारे बच्चे गवाराँ की तरह हिन्दी नहीं सीखते ! बन्धु, इसी तरह इन चार हिन्दी राज्यों के मंत्रियों और सचिवों और ऊँचे अफसरों के बेटा-बेटो भी अंग्रेजी स्कूलों में ही अंग्रेजी माध्यम से पढ़ते हैं । विधान सभा में शिक्षा मंत्री वक्तव्य देते हैं कि हमने हिन्दी स्कूलों को ऐसी उन्नति कर दी मगर मंत्री जो अपने बच्चों को इन 'उन्नत' स्कूलों में नहीं भेजते । क्या कारण है ? जैसा मैंने सन् १९५८ में 'वसुधा' के एक सम्पादकीय में लिखा था, (अपनी ही उक्ति का उद्धरण सिर्फ़ माचवे ही नहीं देते, मैं भी दे लेता हूँ)

अंग्रेजों से एंजोनियर बनता है घोर हिन्दी में पटवारी । उच्च वर्ग का आदमी मरने बटे को एंजोनियर बनाएगा घोर निम्न मध्यम वर्ग का आदमी पटवारी । बन्धु, इस भयंकर मिथ्याचार में हिन्दी वाले भा तो कैसे हैं घोर तब दक्षिण वाला सोचता है कि अगर हिन्दी में ही ऊँची नौकरी मिलेगी, हिन्दी पत्रकारिता से ही जीविका चलेंगी, हिन्दी से ही ऊँची शिक्षा मिलेगी, तब मेरा क्या होगा ? इस मौके पर राजनीतिक नेता प्रकट होता है घोर मामले को हाथ में ले कर उलझता जाता है ।

बन्धु, व्यावहारिक सुविधा, अर्थ घोर राजनीति का मसला है यह । मगर इसमें प्रेम घोर पूछा की भावुकता भा गयी है । डॉ० रघुवीर ने इसे हिन्दू साम्प्रदायिकता का रूप ही दे दिया । उन्हें जनसघ का अध्यक्ष होना था । उन्होंने रुढ़ व्यावहारिक शब्दों को आर्य समाज मन्दिर में ले जा कर उनका शुद्ध संस्कार किया घोर प्रफोरेलास वहाँ से जगत्कार हो कर निकला । हिन्दी विरोधियों ने इस 'रघुवीरी' नाम से जानी जाने वाली शब्दावली को ले कर हिन्दी भाषा का कितना उपहास किया है । उपहासकर्त्ताओं में से अधिकांश ने वे शब्द-कोश देखे तक नहीं होंगे । उनमें सब कुछ निरर्थक नहीं है, काफ़ी अम का भी है । मगर रेल, टाई, टेबल—आदि के पर्यायवाची शब्द ले कर खूब मजाक उड़ाया गया । विद्वानों ने भी ऐसा किया अंग्रेजी आचार्य प्रोफेसर देव का मैंने एक भाषण सुना जिसमें वे हिन्दी का मजाक यह कह कर उड़ा रहे थे कि हिन्दी में नेकटाई को 'कठ लंगोट' कहते हैं । ठेठ सड़क छाप बात विद्वान ने कही । मजा यह है कि यह बहुचर्चित, उपहाससाधक 'कठ लंगोट' शब्द उस अभाग्य रघुवीर के शब्द-कोश में नहीं है । मगर मजाक के लिए चल रहा है गर्व ज्ञान का होतें देखा है । मगर हिन्दी के मामले में अज्ञान गर्व का विषय हो गया है । 'हम तो हिन्दी पढ़ा नहीं' गर्वपूर्वक कहा जाता है । भारतीय साहित्य के अंग्रेजी व्याख्याताओं का अज्ञान तो बहुत ही भयंकर कुछ महीने पहले अंग्रेजी में भारतीय लेखक कुशवंत सिंह ने एडिनबरा के सम्मेलन में भारतीय साहित्य पर जो भाषण दे मारा, उसमें सिर्फ

आर० के० नारायण की तारीफ़ की । नारायण अंग्रेजी में लिखते हैं, जिसे कुशवंतसिंह 'वाँच' लेते हैं, और फिर, उनकी एक किताब की भूमिका ग्राहम ग्रीन ने लिखी है । यों नारायण मुझे भी पसन्द हैं, लेकिन क्या भारतीय भाषाओं में और कुछ नहीं लिखा जा रहा है ? कुशवंत सिंह को मालूम चाहे कुछ न हो, लेकिन बोले बिना वे रह नहीं सकते—वे विदेशों में 'भारतीय' जो कहलाते हैं । ऐसे व्याख्याता कई हैं । अभी मैंने एक चेक पत्रिका में हिन्दी कविता पर लेख पढ़ा जिसमें केवल निराला और दो फ़िल्मी गीतकारों के नाम ही थे । लेखक निराला का नाम सुनने से बच नहीं पाया होगा और फ़िल्मी गीत उसने शीक से सुने होंगे । लेख लिखने को इतना काफी है !

बन्धु, यह हिन्दी का मामला ही नहीं है, अपनी जमीन से उखाड़ जाने का मामला है । श्री लंका के पत्रकार तर्जो विटार्शा ने 'द ब्राउन साहब' में लिखा है कि ब्रिटेन के नव स्वतंत्र उपनिवेशों में से ग़ोरे साहबों के जाने के बाद जिन 'ब्राउन साहबों' का सब जगह कब्ज़ा हो गया है । वे अपनी जमीन से उखड़े हुए घोर असंस्कृत लोग हैं । वे इन देशों का अपना सदा राष्ट्रीय सांस्कृतिक रूप ग्रहण ही नहीं करने देते ।

अच्छा, जय हिन्दी !

मस्नेह,

ह० शं० प०

ममोषा घोर डॉ० भगवतशरण उपाध्याय के सेग को से कर जो विवाद हो रहा है, वह शुभ है। मैं चाहता हूँ कि एक घोर बहस शुरू करिए। बहस होगी—'नयी कहानी' घोर 'पुरानी कहानी' पर। इसकी जमीन मैं देता हूँ, इमारत घोर ताने।

कुछ लोग कहते हैं कि हम जो कहानी लिखते हैं, वह 'नयी कहानी' है। वे यह भी कहते हैं कि कुछ घोर लोग जो लिखते हैं, वह पुरानी कहानी है। तब वे 'कुछ घोर' लोग कहते हैं कि तुम लोग जो लिखते हो, वह 'कहानी' ही नहीं है। तीसरा स्तर तब मसीहाई पंदाइ से घाता है—धरे भाई, क्यों झगड़ते हो? तुम भी अच्छा लिखते हो, वे भी अच्छा लिखते हैं। सभी अच्छा लिखते हैं। न कुछ नया है, न कुछ पुराना। संसार घसार है। दो दिन की शिंदगी है। बने तो भला कर लो। कम से कम हमें तो साधु मानो!

मगर हिन्दी में कोई किस्मों को तब तक साधु नहीं मानता जब तक वह पाठ्य-गुन्तक समिति का सदस्य न हो जाए। साधुओं की बात किसी ने नहीं मानी घोर झगड़ा इस वक्त गूब जार पर है। पहिले तो मैंने समझा कि यह झगड़ा कहानी में कहानी का है। पर बाद में देखा कि झगड़ा उग्र में उग्र का है। करना ऐसा क्यों न होता कि पचास से ऊपर की उग्र का कोई कहानीकार—नाल ठोंक कर कहता कि हाँ, नयी कहानी लिखो जा रही है घोर मैं लिख रहा हूँ। नयी कहानी के ये लक्षण हैं, जा मेरी कहानी में पाये जाते हैं। मेरी ही नहीं, मेरी उग्र के इन-इन लेखकों में पाये जाते हैं। अब बोलो २० से ४० के बीच के वक्त्रों!

ऐसा किन्हीं ने नहीं कहा। अब भी कह दे, तो बहस का दण्ड ही पकट जाए। जनगण तक ऐसा कर लेता है कि मुगलमानी को सदस्य बना कर कहता है कि लो, हम भी धर्म-निरपेक्ष, भगाम्भेदाधिक। अब बोलो 'नेटुवर टेमोक्रैट्स'!

मैं देख रहा हूँ कि यह झगड़ा 'साधु-विमागों' के बीच ही चल रहा है। इस पर इसी दृष्टि से विचार करना चाहिए घोर इसका हल

खोजना चाहिए ।

इसमें मूल गलती तो समय की है जो बदल जाता है । दूसरी गलती दुनिया की है, जो बदलती रहती है । हमें 'काल देवता' से प्रार्थना करनी चाहिए कि तू बदल मत । ब्रह्मा का एक दिन तो तू हमारे लाखों वर्षों के बराबर बनाता है, पर हमारा वर्ष इतनी जल्दी बदल देता है । इसी तरह दुनिया से प्रार्थना करनी चाहिए कि तू देख कि तेरे बदलने के कारण हिन्दी साहित्य पर संकट आ गया है । क्या तू कहानीकारों के भले के लिये कम से कम एक शताब्दी भी एक करवट सोयी नहीं रह सकती ?

अगर समय और दुनिया अपनी विनती नहीं सुनते, तो फिर भारत सरकार का ध्यान इस तरफ़ दिलाना चाहिए । शांति और सुरक्षा के लिए सरकार को इस मामले में हस्तक्षेप करना भी चाहिए । साहित्य में यह भगड़ा इसलिए खड़ा होता है कि कोई लेखन पहले और कोई पीछे पैदा होता है । अगर लेखकों के जन्म को नियमित कर लिया जाए, तो भगड़ा खतम हो सकता है । चाहे संविधान में संशोधन ही क्यों न करना पड़े. पर यह क़ानून बन जाए कि हर शताब्दी के किसी निश्चित वर्ष में ही कहानीकार पैदा हो सकता है । ज्योतिषियों से गणना करवा ली जाए कि कौन वर्ष कहानीकारों के जन्म के लिए शुभ है । उस वर्ष जितने कहानीकार चाहें पैदा हो जाएँ; आगे-पीछे नहीं । मान लीजिए शताब्दी का नवाँ वर्ष शुभ वर्ष निकला । अब नवें वर्ष में पैदा होने वालों में से ही कुछ लोग कहानी लिख सकेंगे । इसके पहिले या बाद में जन्म लेने वाला कोई कहानी लिखेगा तो वह क़ानूनन जुर्म होगा । जब एक ही साल पैदा हुए लेखक कहानी लिखेंगे तो न कोई नयी कहानी होगी और न कोई पुरानी । तब हर कहानी शताब्दी की कहानी होगी, जो अभी दशक की कहानी होती है । तब इस पीढ़ी का कहानीकार आगामी पीढ़ी के कहानीकार को नहीं देख सकेगा क्योंकि हर वर्षगांठ पर हमारी शुभकामना के बावजूद कौन लेखक १०० साल जीता है । इसी तरह का एक वर्ष कवि के पैदा होने के लिए तय हो जाए, तो नयी कविता वालों

को भी चैन मिले धीर डॉ० नामवर सिंह 'खण्डहर' नहीं, दिन भर मजे में नयी कविता पर बैठें या लेंटें या सो जाएँ। कोई कुछ नहीं कहेगा; बल्कि ता कर खाना खिला देगा।

बन्धु, इधर एक नये दृष्टिकोण से इस संघर्ष को देखा गया है। किसी ने कहा है कि यह सारा झगड़ा धंधे का है। नया लेखक बाजार में अपना माल खपाना चाहता है, इसलिए जमे हुए व्यापारियों के माल को धटिया कहता है। यह साहित्यिक विवाद नहीं, आर्थिक स्पर्धा है। अगर यही बात है, तो मामला सहज ही हल हो सकता है। एक पत्रिका निकले जिसका नाम 'पुरानी कहानी' हो, जो हर कहानी का पारिश्रमिक ५००) दे। अब कौन माई का लाल नया लेखक ऐसा है, जो ५००) के लोभ में 'पुरानी कहानी' नामक पत्रिका में 'नयी कहानी' न छपाए? बस, इस तरह पैसे से फँसा कर अपने को नया कहने वाले हर लेखक को 'पुरानी कहानी' की जिल्दों में बाँध दें और तब दुनिया को बता दें कि ये नये कहलाने वाले वास्तव में पुराने हैं। बन्धु, इस तरह 'नयी कहानी' का नाम ही इस भूतल से मिट जाएगा। झगड़ा भी खतम हो जाएगा।

मुझे ये नाम ही गलत लगते हैं। नये लेखक कहते हैं कि हम नयी वास्तविकता का चित्रण कर रहे हैं और पुराने लेखक पुरानी वास्तविकता का। यो मैंने कुछ नया को भी पुरानी वास्तविकता का चित्रण करते देखा है। अगर नयी और पुरानी वास्तविकता का ही भेद है तो पुरानी वास्तविकता वाली कहानी को 'ऐतिहासिक कहानी' क्यों नहीं कहते? इस तरह दो चोड़ें रह जाएंगी—कहानी और ऐतिहासिक कहानी। ऐतिहासिक कहानी लिखने का हर एक को हक है और यह कोई बुरी बात भी नहीं है। मुझे तो २५ साल पहिले के वे भेद अच्छे लगते हैं—सामाजिक कहानी, धार्मिक कहानी, ग्रामीण कहानी, सास-बहू की कहानी, ऐतिहासिक कहानी, वीरता की कहानी, हास्यरस की कहानी। कुछ इसी तरह के प्रकरण शुरू में नये कहानीकारों ने भी बनाये थे, जब वे शहरी



कारण तो यह था कि 'उर्वशी' वाला विषय जरा बँसा है—यानी जेनेन्द्रजी इस मामले को 'मुनीता' से लेकर अब तक हल करने की कोशिश कर रहे हैं, पर अभी तक वह उनसे भी हल नहीं हुआ, तो मैं क्यों इसमें पड़ूँ? सोचा, भागे जब मौका आएगा, तो चरम आसक्ति और विरक्ति के एक ही क्षण का एक-दो घंटे अध्ययन करूँगा—मुक्तिबोध चाहे इसे 'कृत्रिम मनोविज्ञान' कहते रहें।

लेकिन सोच का दूसरा कारण बड़ा था। मुझे पता लगाना था कि 'दिनकर' कौन है, क्या करते हैं, उनकी कैसी पहुँच है? खुश हो गये, तो अपना क्या साथ दूँगे और नाराज हो गये, तो क्या द्रिगाह दूँगे? किसी भी पुस्तक की समीक्षा करने से पहले ये बातें जानना जरूरी होता है। इसके बिना निष्पक्ष मत नहीं बनाया जा सकता। यह जानकारी भी मुझे चाहिये थी कि 'दिनकर' पढ़ें के पूर्व में हैं कि परिवर्तन में माने उनके पास चिट्ठियाँ पूर्वी यूरोप से आती हैं कि परिवर्तनी यूरोप से। इसके लिए दिल्ली जा कर डाकिये से पूछताछ करनी पड़ती। इतनी फुरसत मुझे उस वक़्त थी नहीं। मैंने तय किया कि इस मामले में चुप ही रहूँगा।

चुप रहा निष्क्रिय नहीं रहा। 'मेरे नगर्पति मेरे विशाल' कविता मैंने फिर खोजी और एक दोस्त को पढ़ कर सुनायी। उसने कहा—यह आदमी पुनरुत्थानवादी है। यह आगे चल कर वर्णश्रम धर्म पर पहुँच सकता है। मैंने कहा—नहीं, यह आदमी उग्र राष्ट्रवादी अगर है, तो कुछ जनवादी भी है। इसकी दिल्ली कविता पढ़ कर देखो और फिर जिसने इतिहास—संस्कृति का अध्ययन प्रस्तुत किया है तथा भारत की संस्कृति को समन्वित संस्कृति के रूप में देखा है, उसके बारे में ऐसी आशंका नहीं हो सकती। यह सुन कर उस मेरे दोस्त ने 'परशुराम की प्रतीक्षा मेरे सामने खोल कर रख दी और कहा, इसकी भूमिका में प्राचीन हिन्दू आदर्शों में आस्था प्रकट की गयी है और राष्ट्र के उन्नयन के लिए परशुराम की प्रतीक्षा इन्हें है। इन्हें यह आद नहीं रहता कि परशुराम की जाति के लोग नम्बूदरी ब्राह्मण समाजवाद में विरवास

और देहाती कहानी की गहराई पर बहस करते थे। उस वक़्त कसबों की कहानी भी बन गयी थी। मैं उम्मीद कर रहा था कि यह भेद और मूढ़ता होता जाएगा और आगे तहसील की कहानी, थाने की कहानी, मुहल्ले की कहानी होगी। फिर एक भेद होगा १० हजार की आबादी के कसबों का कहानी, दूसरा होगा सत्तर हजार के शहर की कहानी, फिर ३० लाख के महानगर की कहानी। आगे चल कर 'हिल स्टेशन' और 'रेडियो स्टेशन' और 'सेनेटोरियम' की कहानियाँ होंगी।

यह हुआ नहीं। साहित्य ने मोड़ ले लिया और भगड़ा नयी और पुरानी कहानी में चल पड़ा। इसे बढ़ावा देना हर सचेत सम्पादक का कर्तव्य है। इसलिए आप भी अखाड़े में मिट्टी डालें। लड़ने वाले आस-पास लेंगोट बाँचे खड़े हैं।

तबियत अब अच्छी है। अगले वर्ष का भविष्य-फल भी एक पत्र के दोपावली अंक में पढ़ा। अच्छा है। सिर्फ़ दोस्तों और सम्पादकों से सावधान रहने की चेतावनी दी है।

सस्नेह,

ह० शं० प०

सोलह

प्रिय बन्धु,

जनवरी का अंक देखा और उसमें भी 'उर्वशी' विवाद पर टिप्पणियाँ पढ़ीं। पता नहीं 'उर्वशी' थी या नहीं, अगर अभी भी है, तो कहाँ है। कहीं हो, इतना निश्चित है कि उस उर्वशी को ले कर देवताओं में इतना विवाद न छिड़ा होगा, जितना इस 'उर्वशी' के कारण हम लोगों में छिड़ा।

मुझे सब से चतुर वे लगे जो इस विवाद में चुप रहे—जैसे खुद मैं। जब आपकी चिट्ठी आयी, तो मैं सोच में पड़ गया। सोच का एक

कारण तो यह था कि 'उर्वशी' वाला विषय जरा वैसा है—यानी जेनेन्द्रजी इस मामले को 'सुनीता' से लेकर अब तक हल करने की कोशिश कर रहे हैं, पर अभी तक वह उनसे भी हल नहीं हुआ, तो मैं क्यों इसमें पड़ूँ? सोचा, आगे जब मौका आएगा, तो चरम भासक्ति और विरक्ति के एक ही छण का एक-दो घन्टे अध्ययन करूँगा—मुक्तिबोध चाहे इसे 'कृत्रिम मनोविज्ञान' कहते रहें।

लेकिन सोच का दूसरा कारण बड़ा था। मुझे पता लगाना था कि 'दिनकर' कौन है, क्या करते हैं, उनकी कैंसी पहुँच है? खुरा हो गये, तो अपना क्या साथ देंगे और नाराज हो गये, तो क्या बिगाड़ देंगे? किसी भी पुस्तक की समीक्षा करने से पहले ये बातें जानना जरूरी होता है। इसके बिना निष्पक्ष मत नहीं बनाया जा सकता। यह जानकारी भी मुझे चाहिये थी कि 'दिनकर' पदों के पूर्व में है कि पश्चिम में याने उनके पास चिट्ठियाँ पूर्वी यूरोप से आती हैं कि पश्चिमी यूरोप से। इसके लिए दिल्ली जा कर डाकिये से पूछताछ करनी पड़ती। इतनी कुरसत मुझे उस वक़्त थी नहीं। मैंने तय किया कि इस मामले में चुप ही रहूँगा।

चुप रहा निष्क्रिय नहीं रहा। 'मेरे नगर्भित मेरे विशाल' कविता मैंने फिर खोजी और एक दोस्त को पढ़ कर सुनायी। उसने कहा—यह भादमी पुनरुत्थानवादी है। यह आगे चल कर वर्णाश्रम धर्म पर पहुँच सकता है। मैंने कहा—नही, यह भादमी उग्र राष्ट्रवादी अगर है, तो बुद्ध जनवादी भी है। इसकी दिल्ली कविता पढ़ कर देखो और फिर जिसने इतिहास—संस्कृति का अध्ययन प्रस्तुत किया है तथा भारत की संस्कृति को समन्वित संस्कृति के रूप में देखा है, उसके बारे में ऐसी भासंका नहीं हो सकती। यह सुन कर उस मेरे दोस्त ने 'परशुराम की प्रतीक्षा मेरे सामने खोल कर रख दी और कहा, इसकी भूमिका में प्राचीन हिन्दू भादशों में आस्था प्रकट की गयी है और राष्ट्र के उन्नयन के लिए परशुराम की प्रतीक्षा इन्हें है। इन्हें यह याद नहीं रहता कि परशुराम की जाति के लोग नम्बूदरी ब्राह्मण समाजवाद में विश्वास

कर्मों से होते हैं। आत्मज्ञान प्राप्त किया हुआ पुरुष आत्मज्ञानवादी दार्शनिक ब्रह्म सांकेतिक आचार्य हैं, परन्तु वह आत्मीय ब्रह्म का 'आत्मिष्ठत्व' ही जानता है। योगी दार्शनिक के पास बहुत ही स्पष्ट और चरम भाव है। कुछ को परमेश्वर मान लेता, कुछ को ईश्वर नहीं और कुछ को सुन्दरतम ब्रह्मकारी। उन्हें विचार होने आत्मीय का भरोसा नहीं होता कि वह कब कब मान पर पड़ने लगता है। योगी हमसे के पास बहुत आत्म पड़ने लगता है, और वह पड़ने लगता है एक निष्कर्ष पर निश्चय कि ब्रह्मकारी की भाव निश्चय आत्मीय परमेश्वर की प्रतीक्षा होने वाली है।

मैंने दोस्तों के इस मामले आशोधन का 'पर्यटन' में कोई मन्वन् नहीं था, पर्यटनकार के राजनैतिक व्यक्तित्व में समझ था । मुझे भी कुछ हेराती समझ हुई कि उपजातनवादी कवि अब प्रोढ़ हो जाता है तब काम और सम्पत्तिक के रहस्य में क्यों ह्व आता है ? सन् ४२ के क्रांतिकारी अच्युत पटवर्धन आश्रम क्यों गोल सेते हैं ? आश्रम उसी दिशा में प्रोढ़ क्यों नहीं होता ? दिशा बदल कर प्रोढ़ क्यों होता है ? प्रेम का कवि प्रोढ़ होने पर और गहर प्रेम का कवि न हो कर गिरिगर की नीतिभरी कुंठितियाँ क्यों लिखता है ? अभिनेता प्रोढ़ होने पर क्लृप्त-निर्माता क्यों होता है ? पता नहीं ऐसा क्यों होता है ? मिश्रित अर्थ-व्यवस्था के कारण तो ऐसा नहीं होता हो ? अशोक मेहता जानें ।

कारण कुछ भी हो, 'उर्वशी' आयी और बड़ी धूम के साथ आयी। 'कल्पना' में बहुत लोगों ने शिकायत की है कि 'उर्वशी' का सुनियोजित प्रचार किया गया कि ऐसा काव्य दूसरा नहीं है, कि 'कामायनी' तो इसके सामने छोटी पड़ गयी। मुझे इसमें कोई असाधारणता नहीं लगती। हिन्दी में हर १०-५ सालों में एक किताब निकलती है, जो अपने से पहले की सब किताबों को काट देती है। दफ्तर में प्रचलित भाषा में वह चाक्री सब किताबों को 'राइट आफ़' कर देती है। 'उर्वशी' ने 'कामायनी' वगैरह को 'राइट आफ़' कर दिया, तो यह प्रचलित तन्त्र के अनुसार ही हुआ। हिन्दी में एक बात और होती है—हर १५-२० साल

बाद घोषणा की जाती है कि वस भव इसके भागे साहित्य बढ़ ही नहीं सकता। डॉ० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' मानते रहे कि 'उद्भव-शतक' के बाद हिन्दी में कविता ही नहीं हुई। पर कविता का दुर्भाग्य कि वह हुई। इसी तरह पाचार्य बाजपेयी कई साल तक मानते रहे कि 'भंचल' के बाद हिन्दी कविता खतम हो गयी। पर फिर चलटा हो गया। हिन्दी कविता तो खतम नहीं हुई; कवि 'भंचल' भलवत्ता खतम होते भये। साहित्य को इस अनियमनशीलता को क्या कहा जाये।

मुझे जरा भी अजब नहीं लगता कि 'उर्वशी' के जाने की खबर 'मुगल-ए-भाजाम' चित्र की तरह दी गयी, यद्यपि हमारे शहर में था कर वह मिर्ज़ा दो सप्ताह चला। उसमें एक ही बात भाकर्णक थी कि दिलीप-कुमार ने प्रेमियों का 'श्रमिक संघ' बनाया है, नारे लगवाये हैं और शायद 'इन्ट्र' से सम्बद्ध भी करवाया है। तो प्रचार से मुझे शिकायत नहीं। प्रचार के हम अभ्यस्त हैं। जिसके पास प्रचार के माध्यम हैं और जो समर्थ है, वह प्रचार करेगा ही। वह क्या दूसरे भसमयों की तरह अपने प्रचार के लिये दूसरों का मुँह देखेगा। मेरे इधर एक सम्पन्न नेता का एक भखवार पहले निकलता था, जिसमें रोज़ उनकी तारीफ़ छपती थी। लोग उनको धालोचना करते, तो मैं कहता था कि अपने ही भखवार में अगर वह अपनी तारीफ़ छपाता है, तो तुम्हें क्यों एतराज़ हो? भखवार तुम्हारा है कि उसका? हाँ, अगर कोई दूसरा भखवार उसकी तारीफ़ छापे तो जंगली बराबर उठाओ। पर वह तुम्हें जंगली उठाने का ऐसा मौका ही न देगा। खुद अपना प्रचार करना और करवाना सामर्थ्य की बात है। कितनी ही श्रेष्ठ पुस्तकें निकल जाती हैं और उन पर कोई ध्यान नहीं देता क्योंकि उनके लेखक और तरह से सामर्थ्यहीन हैं। अब 'दिनकर' एक विश्वविद्यालय के उपकुलपति हो गये हैं। अब अगर विश्व-विद्यालय का समूचा हिन्दी विभाग 'उर्वशी' के प्रचार में लग जाए, तो कोई हिन्दी वाला क्या बिगाड़ लेगा?

इधर मैं कुछ दिनों से दिल्ली में हूँ। मेरे एक लेखक मित्र ने बताया

कि चीनी हमले के बाद जब 'दिनकर' उद्वेलित होकर वैसी कविताएँ लिख रहे थे, तब एक दिन मैंने उनसे पूछा कि क्या सचमुच आपके ऐसे ही विश्वास हैं। 'दिनकर' ने जवाब दिया—विश्वास तो मेरा नहीं है; पर मैं देश को उभारना चाहता हूँ। अगर यह बात सही है, तो उस कवि की महानता में क्या शक है, जिसके विश्वास कुछ हैं और वह लिखता ठीक उनके प्रतिकूल है। ऐसा 'ईमान' कवि में नहीं महत्वाकांक्षी राजनीतिक नेता में होता है। मुझे याद आता है, कोई ७-८ साल पहले 'उग्र' ने 'समाज' में 'बिन्दु-बिन्दु विचार' स्तम्भ के अन्तर्गत 'दिनकर' के सम्बन्ध में लिखा था कि कवि में राजनीतिज्ञ और नेता उसी तरह छिपे रहते हैं; जिस तरह मरी भैंस के चमड़े में जूते और सूटकेस !

बन्धु, जिससे 'मेरे नगपति मेरे विशाल' कविता ध्यान से पढ़ी थी, वह जानता था कि एक दिन यह कवि परशुराम की प्रतीक्षा करेगा और काम तथा श्रद्धात्म में गोते लगाएगा। वह जरूर 'जन-पथ' पर चलते-चलते 'गेलाड' में बैठ जाएगा।

'उर्वशी' पर जो प्रतिक्रियाएँ हुईं, उनसे मेरे सारे अनुमान गलत साबित हो गये। हिन्दी में अनुशासन खतम हो गया। लोहे की दीवार की जगह पर्दा लग गया है, जिसे खिसका कर कोई भी इस तरफ से उस तरफ आ-जा सकता है। मैं देखता हूँ कि डॉक्टर रामविलास शर्मा ने 'उर्वशी' की तारीफ की है, जबकि 'अज्ञेय' ने उसे कोई महत्व ही नहीं दिया, बल्कि दोष ही बताये हैं।

अन्त में, मेरे मन में एक शंका उठती है। कहीं 'उर्वशी' के सुनियोजित प्रचार में उपाध्याय जी भी तो शामिल नहीं हैं? वह लेख लिखकर उन्होंने 'उर्वशी' का जितना प्रचार कराया है, उतना तो 'दिनकर' ने भी नहीं कराया। आप पूछ कर देखिए उपाध्याय जी से।

और सब ठीक है। इधर दिल्ली में हूँ। 'कॉफ़ी हाउस' और

'टो हाउस' के सेगकों के दरान रोड शाम को बरता है। यह घनग विषय है, त्रिम पर घागे कभी निर्गुता।

गुप्तम

ह० श० प०

सत्रह

द्विज बन्धु,

मेरी पिछली चिट्ठी से ऐसा अनुमान लगाया गया होगा कि इस बार मैं दिल्ली के साहित्यिक भग्नाशेषों पर निर्गुता। मगर मैं जिस रहा है बम्बई के बारे में। अच्छा सफल सेवक वही है, जो दिल्ली की तरफ मुंह करे और जमा जाए बम्बई। ऐसे सफल सेवकों की एक सम्बन्धी सूची बन सकती है जिनकी दिशा कुछ दिगन्ती है पर वे जा रहे होते हैं किसी और दिशा में। कितने ऐसे हैं जो 'प्रगतिशील' के सिताब में मुशोभित होते थे, पर वे वे किशोर जमान वाले। कितने ऐसे हैं जो क्रान्तिवादी बताते थे, पर वे जिनो अच्छी नौकरी की तलाश में। ऐसे भी हैं, जो गाँधीवादी होने का प्रचार करते हैं, पर हैं बेबन योनाजान्त। ये सभी सकलता को घोर निरन्तर कदम बढ़ाते गये हैं।

तो मैं दिल्ली का इशारा करके जो बम्बई उठ गया, मां मिर्क इन कारणों कि 'धर्मयुग' में एक कहानी छपी और फिर उस पर बहस छपी। कहानी चाहे धमर न हो, पर उस पर बहस साहित्य में धमर हो सकती है। कहानी छपने के तीसरे दिन भूला दी जाएगी, ऐसी सम्भावना धमर हो तो उस पर तीन-चार सप्ताह विवाद चलाना चाहिए। इस तरह यदि कहानी को 'प्राक्सीजन टेन्ट' में रख दिया जाए, तो उसकी साँस हफ्तों चल सकती है।

बन्धु, एक कहानी जैनेन्द्र कुमार ने लिखी और उसे 'धर्मयुग' में छपाया उसे साखों पाठकों ने और सैकड़ों लेखकों ने पढ़ा होगा। पाठक पढ़ कर

बोला—ये अब कैसा लिखने लगें ! श्रीर कहानी आयी गयी हो गई । पर लेखक ने उसे पढ़ा श्रीर कहा—इस पर वहस होनी चाहिए । वहस चली रमेश वच्ची ने सोचा कि नये कथा-साहित्य का भला इसी में है कि पुराने लेखक की हर रचना पर जो ध्यान देने के क्राविल भी नहीं हैं, गम्भीरता से वहस की जाए । जैनेन्द्र कुमार को सपने में भी कल्पना नहीं थी कि यह कहानी ऐसी महत्वपूर्ण है कि इसे लेकर कथा-साहित्य का भूत, भविष्य वर्तमान तय होने लगेगा । अब वे दिल्ली बैठे भोपाल की तरफ आखें किये बम्बई की श्रीर देख रहे हैं श्रीर हँस रहे हैं कि कहो, नये लोगो, कैसा फँसाया । तुम मुझे कहानी लेखक ही नहीं मान रहे थे । मैंने एक रद्दी कहानी पर तुमसे हफ्तों वहस करवायी । इतनी वहस तो मेरे तथाकथित 'विचारों' पर भी नहीं हुई ।

बन्धु, नये लेखकों को इस पर विचार करना चाहिए कि रमेश वच्ची ने अपनी तरफ से उक्त कहानी पर वहस छोड़ी या जैनेन्द्र कुमार की तरफ से । जैसा मुझे शक है, भगवतशरण उपाध्याय ने 'दिनकर' की प्रार्थना पर 'उर्वशी' की कटु आलोचना की थी, वैसे ही, मुझे लगता है, जैनेन्द्र के प्रोत्साहन से ही रमेश वच्ची ने उनकी कहानी की आलोचना की है । इस शक का एक कारण श्रीर है । रमेश वच्ची के प्रति जैनेन्द्र कुमार आत्मीयता अनुभव करते ही होंगे । दोनों की समस्या एक है—रमेश वच्ची की उम्र अभी छोटी जरूर है, पर वह आगे चल कर प्रौढ़ हो ही जाएगी । तब तक प्रौढ़ा से बात करने का साहस भी आ जाएगा । जब साहस आ जाएगा, तब जैनेन्द्र कुमार का शेष काम पूरा हो सकेगा ।

वह कहानी अभी भी 'आक्सीजन टेन्ट' में रखी है । अगर उसके प्राण निकल गये तो नये लेखक ही उसके लिए स्तूप बनवाएँगे और मेला भरवाएँगे । पिछले १० सालों में साहित्य के क्षेत्र में रचना और समीक्षा सम्बन्धी बड़े-बड़े काम हुए हैं । पर सबसे महत्वपूर्ण काम यह हुआ है कि अच्छी रचनाओं को छोड़ कर बुरी रचनाओं पर विवाद आयोजित हुए । अच्छी रचना करने के लिए लेखक के मन में उत्साह घटता

गया है और वह लगातार बुरी रचना करने की कोशिश करता रहा है। इसमें बहुत लेखक सफल भी हो गये हैं। कहा है—अध्यवसाय सफलता की कुञ्जी है।

बन्धु, अगर रमेश बच्ची आदि ने जैनेन्द्र कुमार की प्रार्थना पर विवाद नहीं उठाया, तो उनके इरादे दूररे भालूम होते हैं। ये लोग शायद यह सोचते हैं कि एक बुरी कहानी पर यदि हम बहस चलाएंगे, तो जैनेन्द्र कुमार बुरी कहानी लिखने का लाभ समझ कर लगातार बुरी कहानियाँ लिखेंगे। अच्छी कहानी लिखने से कुछ नहीं होता, बुरी कहानी लिखने से चर्चा होती है। जिसे चर्चा करानी है, वह अच्छी कहानी क्यों लिखे? बुरी क्यों न लिखे? जैनेन्द्र लाख घपले में हो, मगर इतनी लाभ-हानि की बात तो समझते हैं। अतः वे अब बड़ी तेजी से बुरी कहानियाँ लिख-लिख कर साहित्य को भेंट करते जाएंगे। इस तरह नयी पीढ़ी को पुरानी पीढ़ी से बुरी कहानियाँ लिखवाने का थ्ये मिलेगा। नये साहित्य की श्रेष्ठता तभी सिद्ध होगी, जब पुराने लोग घटिया लिखेंगे। हम लोगों को खुद कुछ अच्छा लिखने की जरूरत नहीं है। हम सिर्फ इतना करें कि घटिया रचनाओं पर बहस करके और घटिया लिखवाते जाएँ।

बन्धु, इससे नये लेखकों को लाभ होगा, जैनेन्द्रादि को भी होगा। पर साहित्य के भण्डार में एक के बाद एक घटिया चीजें गिरती जाएंगी।

उस कहानी को नापसन्द करने वालों ने एक बात कोई समझ की नहीं कही। यह कोई आलोचना नहीं हुई कि क्रिस्टीन कोलर पर जैनेन्द्र जैसे लेखक ने क्यों लिखा। वे न लिखते, तो कौन लिखता? मुझे कोई दूसरा नाम बताओ? नहीं बता सकते। इसका मतलब है कि हिन्दी में यदि उस पर लिखना पड़ता, तो उसे जैनेन्द्र ही लिखते। यही हिन्दी साहित्य की नियति है और यही जैनेन्द्र की भी।

इसमें कोई आश्चर्य की बात भी नहीं है। कौन दूसरा लेखक है, जिसने तीस साल पहले 'स्ट्रिपटीज' में रचि दिखायी हो? सिवा जैनेन्द्र के कोई नहीं। सुनोता ने जैसी 'स्ट्रिपटीज' की है उसी से दिशा मिलती,

सोना—ये सब मेरा मित्रों सब ! शोर कहानी आयी गयी हो गई । पर लेखक ने नये पड़ा शोर कहा—इस पर बहस होने लगी । बहस नवी रमेश बच्ची ने सोना कि नये कथा-साहित्य का भना इसी में है कि पुराने लेखक की हर रचना पर जो क्थान देने के काविल भी नहीं है, गम्भीरता से बहस को जाए । जेनेन्द्र कुमार को गपने में भी कल्पना नहीं थी कि यह कहानी ऐसी महत्वपूर्ण है कि इसे लेकर कथा-साहित्य का भूत, भविष्य वर्तमान सब होने लगेंगे । अब ये दिल्ली बड़े भोपाल की तरफ घायें किये सम्बर्द्ध की शोर देग रहे हैं और हंस रहे हैं कि कहो, नये लोगो, मेरा केगाया । तुम मुझे कहानी लेखक ही नहीं मान रहे थे । मैंने एक रही कहानी पर तुमसे हज़ारों बहस करवायी । इतनी बहस तो मेरे तथाकथित 'विचारों' पर भी नहीं हुई ।

बन्धु, नये लेखकों को इस पर विचार करना चाहिए कि रमेश बच्ची ने अपनी तरफ से उक्त कहानी पर बहस छेड़ी या जेनेन्द्र कुमार की तरफ से । जैसा मुझे शक है, भगवतशरण उपाध्याय ने 'दिनकर' की प्रार्थना पर 'उर्वशी' को कटु आलोचना की थी, वैसे ही, मुझे लगता है, जेनेन्द्र के प्रोत्साहन से ही रमेश बच्ची ने उनकी कहानी की आलोचना की है । इस शक का एक कारण शोर है । रमेश बच्ची के प्रति जेनेन्द्र कुमार आत्मीयता अनुभव करते ही होंगे । दोनों की समस्या एक है—रमेश बच्ची की उम्र अभी छोटी जरूर है, पर वह आगे चल कर प्रौढ़ हो ही जाएगी । तब तक प्रौढ़ से बात करने का साहस भी आ जाएगा । जब साहस आ जाएगा, तब जेनेन्द्र कुमार का शेष काम पूरा हो सकेगा ।

वह कहानी अभी भी 'आक्सोजन टेन्ट' में रखी है । अगर उसके प्राण निकल गये तो नये लेखक ही उसके लिए स्तूप बनवाएँगे और मेला भरवाएँगे । पिछले १० सालों में साहित्य के क्षेत्र में रचना और समीक्षा सम्बन्धी बड़े-बड़े काम । पर सबसे महत्वपूर्ण काम यह हुआ है कि रचनाओं के विवाद आयोजित हुए के मन में उत्साह घटता

८२ ** और अंत में....

थी कि आगे जा कर जब भी कोई 'स्ट्रपटोज' का मौका आएगा, तो उसे जैनेन्द्र ही कराएंगे। रमेश वच्ची अपनी श्रीकांत पहचानें। इस उम्र में जब वे किसी पर किसी घर कर भी कुछ नहीं पाते, जैनेन्द्र 'स्ट्रपटोज' करा चुके थे। आगे भी अब ऐसे प्रसंग आएंगे, उनका निर्वाह जैनेन्द्र ही करेंगे।

पिछले महीने नयी और पुरानी पीढ़ी के लेखकों की इतनी ही उपलब्धि हुई—एक पुराने लेखक ने घटिया कहानी लिखी और नयों ने उसका प्रचार करके घटिया लेखन को प्रोत्साहन दिया।

और सब ठीक है। आशा है, आपके उधर भी शीघ्र ही कोई विवाद खड़ा होगा।

सप्रेम

ह० शं० प०

अठारह

प्रिय बन्धु,

कल भोपाल से लौटा। वहाँ पचाघात से पीड़ित मुक्तिबोध की चिकित्सा हो रही है।

मुझे माचवे का वह लेख याद आया जो उन्होंने मुक्तिबोध के बारे में 'धर्मयुग' में लिखा था। उस लेख से मेरे विश्वास को बड़ा धक्का लगा। मुझे पूरा विश्वास था कि वे इस घटना पर कविता लिखेंगे। दिल्ली में एक शाम को जब कॉफ़ी-हाऊस में लेखक मित्रों में चर्चा चल रही थी कि इस पर कौन, क्या लिखेगा, तब मैंने बड़े विश्वास से कहा था कि बन्धुवर माचवे फ़ौरन एक कविता लिखेंगे। कविता का कच्चा-मसौदा भी मैंने बताया था। मगर देखता हूँ कि उन्होंने तो लेख लिख दिया। इससे मेरी बड़ी किरकिरी हुई।

इसी सिलसिले में मैंने सोचा कि क्यों न मैं कुछ और लेखकों की

सरक से कवि की बीमारी की प्रतिक्रिया लिख दूँ। यदि उन्हें पसन्द जाएँ, तो यह उन्हीं की मान ली जाएँ।

जहाँ तक भावने जी का सवाल है, वे मेरे विश्वास को इस तरह झुठाना नहीं सकते। उन्हें कविता तो लिखना ही होगा—चाह वे हवाई जहाज में सफर करते हुए लिखें या दौतों पर करते हुए।

क्रिजहाल यह कविता उनकी मंजूरी के लिए पेश करता है—

मुक्तिबोध की बीमारी पर

● प्रभाकर भाषवे

छार-छप्तक, लेख, कविता, डायरी, कामायनी

पुनर्विचार

सुन रहा हूँ हो गये तुम बन्धुवर बीमार।

याद है उज्जैन, शिप्रा, महाकालेश्वर

मही गये कभी रामेश्वर ?

सन्दन, टोरुटो, पेरिस, न्यूयार्क, बुडापेस्ट

जाओगे, जाओगे, मेक ना हेस्ट

किया था न्यूयार्क रेडियो से दो घंटे कविता पाठ

क्या बात है ! खूब है हमें ज़ घोर घाट !

तुम बीमार हो सुन कर दुःखी हम

ट्वीडलडम TWEEDLEDUM

[बस स्टेज पर निमित्त]

निवेदन है कि 'कवि न होतुं नहि चतुर बहाऊँ'—इसलिए हममें भाषा-दोष और छंद-दोष धरि रह हो सकते हैं। पर हमें तो कविता की आत्मा देगनी चाहिये। अब घोर कुछ लेगकों-कवियों की तरफ से मसीही पेश करता हूँ।

श्री मैथिलीशरण गुप्त (हिन्दी के वृद्धा)

रोग-शोक, आधि-ध्याधि का घर है मानव-देह,

हे राम, उसे खंगाल करो, बरसा घोर-ध-मेह।

श्री जैनेन्द्र कुमार

रोग क्या ? और नीरोग कैसा ? रोग में नीरोग है और नीरोग में रोग है । जीना जिसे कहा जाता है, उसका यही भोग है । हम सभी रोगी हैं । हम स्वस्थ हैं—यह सोचना ही रोग का लक्षण है । रोग नहीं तो स्वस्थ होने की चेतना क्यों ? हम न रोगी हैं न स्वस्थ हैं । हम मात्र हैं । और यह होना भी एक रोग है । [‘समय और तुम’ से]

श्री माखनलाल चतुर्वेदी (हिन्दी के दादा)

मेरे कवि, मेरे मनमोहन, मेरी मनुहारों और दुलारों के देवता ! जिसकी सूँ में पंख पसारे प्रतिभा के आकाश में उड़ रही हैं, जिसका ईमान पीढ़ियों को बल दे रहा है, जिसके बोल कोटि-कोटि कंठों की जवानों गा रहे हैं, जिसकी आन और बान पर पीढ़ियाँ बलिपंथी होती हैं, जिसके पेट के ऊपर हृदय और उसके भी ऊपर मस्तिष्क है—वह दुलारा कवि बीमार है । वह जल्दी अच्छा हो और तरुणार्ई के सपने सँजोए ।

अमृतराय (हिन्दी के राजकपूर)

एक ज़माना था. जब मुक्तिबोध और मैं—‘हंस’ में काम करते थे । मेरा बाप प्रेमचन्द उन दिनों जिन्दा था (‘वसुधा’ में प्रकाशित प्रेमचन्द सम्बन्धी एक लेख का शीर्षक अमृतराय ने ‘मेरा बाप’ दिया था) प्रेमचन्द से मुक्तिबोध ने सरलता सीखी और मैंने भाषा । प्रेमचन्द कलम के सिपाही थे; मैं कलम का कप्तान हूँ । सुना है मुक्तिबोध बीमार हैं । मेरी शुभ-कामनाएँ उनके साथ हैं ।

रुवाजा अहमद अब्बास

(तर्ज हिन्दी ब्लिट्ज की ‘आजाद कलम’)

शायर बीमार हैं ।

जनता का शायर बीमार है; कवि बीमार है ।

भूखी जनता, नंगी जनता, वेधर जनता, वेसर जनता, वेपैर जनता का शायर बीमार है—

आज शेक्सपियर बीमार है, मिल्टन बीमार है, वायरन बीमार है,

शेली बीमार है, कीट्स बीमार है, व्हिटमैन बीमार है, मायकोवस्की बीमार है, रवीन्द्र बीमार है, गालिव बीमार है, जौक बीमार है—

मगर—

जैसा किसी फिल्म के गाने में कहा गया है—‘दुनिया के लोगो, ए दुनिया के लोगो, लो हिम्मत से काम । सबकी खबर रखने वाला है राम । जमाना बदलेगा । यह तारोक रात खतम होगी और सारे जमाने में सेहत का सूरज चमकेगा, आफताव चमकेगा, दिनकर चमकेगा, भगवान भास्कर चमकेगा ।

सेहत का सूरज सड़क पर, गली पर, महल पर और भोपड़ी पर चमकेगा । बागीचे, नदी और तालाब पर चमकेगा । पहाड़ों और समन्दरों पर चमकेगा । जेलखाने और कहचरी पर चमकेगा । जञ्चाखानो और अस्पतालों पर चमकेगा ।

और तब सब सेहत पाएँगे—गरीब और अमीर सेहत पाएँगे, बूढ़े, बच्चे और औरतें सेहत पाएँगी । बाबू, मुन्शी मेहनतकश और मजदूर को सेहत मिलेगी । शायर, फ़नकार, भदीव और नक्काश को सेहत मिलेगी ।

जिन्दगी हँसेगी—बस चन्द दिन और मेरी जान चन्द ही दिन और !

हमारे सिर पर सूरज होगा । हम सब खुशी से नाचेंगे, गाएँगे । और हम उस सूरज से कहेंगे—‘बोदहवों का चौद हो, या आफताव हो । जो भी हो तुम खुदा की कसम लाजवाब हो ।’

सोहर्नासह ‘जोश’

(तर्ज लेफ्ट-मेक्टेरियन)

साम्राजो भेडियो ने और सरमायादारी के गुगों ने आखिर एक तर-क्कीपसन्द शायर को लकवा लगा ही दिया । हमें जनता के दुश्मन इन साँपों का भुँह कुचलना है । हमें एक हो कर इस हमले का मुकाबला करना है । कोई बात नही, बारशाघी ! जिन्दा से निकलने की खातिर पाबन्दये जिन्दा और सही !

भई, अभी इतनी ही रचना कर सका हूँ । इतना करके ही मुझे डर

कहते हैं ! जो भरोसा करके साथ हो ले, उसे इस तरह बिग्यावान में तो किताब बेचने वाले भी नहीं छोड़ते । फिर डॉक्टर साहब तो घालो-चक हैं ।

दूसरा भावपूर्ण वक्तव्य श्रीकांत वर्मा ने दिया । उन्होंने कहा कि कविता लिखना ऊँचे दर्जे का काम है और कहानी लिखना घटिया काम है; कवि जब ऊँचा काम करना चाहता है, तब कविता लिखता है और घटिया काम करना चाहता है, तब कहानी लिखता है । किसी कवि के मन में कोई घटिया काम करने की, जैसे जेब काटने की, इच्छा हा, तो वह जेब न काट कर एक कहानी लिख लेगा । मात्र कहानीकार और कवि-कहानीकार में यही भ्रंतर है । मात्र कहानीकार जेब काटने की इच्छा होने पर जेब काटेगा, मगर कवि कहानी लिखेगा । यही बात कहानीकार कवि पर लागू होती है । 'भरक' कहानीकार है, मगर जब जब उनकी इच्छा कोई घटिया काम करने की हुई है, जैसे पीछे से किसी को लसी मार देने की, उन्होंने कविता लिख दी है । राजेन्द्र यादव भी कभी-कभी फ़ौजदारी मामले को टालने के लिए कविता लिखते हैं ।

श्रीकांत ने सिर्फ़ दो को नया कहानीकार माना है । इससे अधिक उदार तो कुँवरनारायण हैं, जिन्होंने पाँच को माना है । कुँवरनारायण ने श्रीकांत का भी नाम लिया है मगर श्रीकांत ने उनका नाम नहीं लिया । दोस्ती क्या इसी तरह निभती है ? श्रीकांत पिछले १० सालों से मेरा बड़ा प्यारा दोस्त है, मगर उसने मेरा नाम भी नहीं लिया । साहित्य के भूल्याकन में अगर लोग दोस्तों को ही भूल जाएँगे, तो मान-दंड कैसे स्थिर होंगे ? घालोचना के क्षेत्र में घराजकता का यही तो कारण है कि कुछ लोग दोस्तों को हमेशा याद रखते हैं और कुछ लोग हमेशा भूल जाते हैं ।

इसी गोष्टी में एक और कहानी का जन्म हुआ, जिसका नाम रखा गया 'सचेतन' कहानी । अब 'नयी कहानी' और 'सचेतन कहानी' की ब्यूर-रचना हो रही है । लेकिन आगे हर ६ महीने में कहानी के लिए एक नये नाम की जरूरत पड़ेगी । ऐसे नाम अभी से सोच कर रखने चाहिए ।

लगने लगा है और मैं इन सबसे चमा-याचना के 'मूड' में आ गया हूँ।
फिर भी इसे भेज तो रहा ही हूँ।

आपका,
ह० शं० प०

उन्नीस

प्रिय वन्धु,

आजकल नित्य ही कहीं न कहीं 'कहानी' पर वहस होती है और बड़े मजे के वक्तव्य सुनने को मिलते हैं।

एक दिन मैं एक 'क्लासिकल' होटल में चाय पी रहा था। 'क्लासिकल' होटल वह है, जिसमें जलेबी दोने में दी जाती है और पानी ऊपर से पिलाया जाता है। आधुनिक होने के लिए ऐसे होटल चाय भी रखने लगे हैं। मैं बैठा-बैठा एक पत्रिका के पन्ने पलट रहा था। मेरी नज़र दिल्ली में हुई 'मनीषा' की गोष्ठी की रपट पर पड़ी। मैंने पढ़ा, डॉ० नामवरसिंह ने कहा कि 'नयी कहानी' मेरा दिया हुआ नाम नहीं है। कौन कहता है कि मैंने 'नयी कहानी' का नाम चलाया। इसी समय मेरी नज़र दीवार पर टंगे रवि वर्मा के उस चित्र पर पड़ी जिसमें मेनका विश्वामित्र को अपनी (और ऋषि की भी) लड़की दे रही है और विश्वामित्र परेशान हो हाथ उठा कर उसे अस्वीकार कर रहे हैं। अवैध संतान के बाप की घबड़ाहट मुझे समझ में आती है। मुझे विश्वामित्र और नामवरसिंह की अदा में एक साम्य दिखा। यों, मैं जानता हूँ कि नामवर सिंह 'नयी कहानी' के पिता नहीं हैं, मगर लोग खूबसूरत वच्चे को गोद भी तो ले लेते हैं। अगर 'नयी कहानी' खूबसूरत वच्ची है और नामवर सिंह में अतृप्त वात्सल्य है, तो गोद ले लेने में क्या हर्ज है? लोक-लाज से इतना थोड़े ही घबड़ाया जाता है! अब उनका क्या होगा, जो दसों सालों इस दम पर कहानी लिख रहे थे कि डॉ० नामवरसिंह उसे नयी कहानी

कहते हैं ! जो भरोसा करके साथ हो से, उसे इस तरह बियावान में तो बिठाव बेचने वाले भी नहीं छोड़ते । फिर डॉक्टर साहब तो भाली-चक हैं ।

दूसरा भार्क्यक वक्तव्य श्रीकांत यर्मा ने दिया । उन्होंने कहा कि कविता लिखना ऊँच दर्जे का काम है और कहानी लिखना घटिया काम है, कवि जब ऊँचा काम करना चाहता है, तब कविता लिखता है और घटिया काम करना चाहता है, तब कहानी लिखता है । किसी कवि के मन में कोई घटिया काम करने की, जैसे जेब काटने की, इच्छा हो, तो वह जेब न काट कर एक कहानी लिख लेगा । मात्र कहानीकार और कवि-कहानीकार में यही अंतर है । मात्र कहानीकार जेब काटने की इच्छा होने पर जेब काटेगा, मगर कवि कहानी लिखेगा । यही बात कहानीकार कवि पर लागू होती है । 'भरक' कहानीकार है, मगर जब जब उनकी इच्छा कोई घटिया काम करने की हुई है, जैसे पोछे से किसी को लत्ती मार देने की, उन्होंने कविता लिख दी है । राजेन्द्र मादव भी कभी-कभी फौजदारी मामले की टालने के लिए कविता लिखते हैं ।

श्रीकांत ने सिर्फ दो को नया कहानीकार माना है । इससे अधिक उदार तो कुँवरनारायण हैं, जिन्होंने पाँच को माना है । कुँवरनारायण ने श्रीकांत का भी नाम लिया है मगर श्रीकांत ने उनका नाम नहीं लिया । दोस्ती क्या इसी तरह निमतो है ? श्रीकांत पिछले १० सालों से मेरा बड़ा प्यारा दोस्त है, मगर उसने मेरा नाम भी नहीं लिया । साहित्य के मूल्यांकन में अगर लोग दोस्तों को ही भूल जाएँगे, तो मान-दंड कैसे स्थिर होंगे ? भालीचना के क्षेत्र में भ्राजकता का यही तो कारण है कि कुछ लोग दोस्तों को हमेशा याद रखते हैं और कुछ लोग हमेशा भूल जाते हैं ।

श्री गोष्ठी में एक और कहानी का जन्म हुआ, जिसका नाम रखा गया 'मचेतन' कहानी । अब 'नयी कहानी' और 'सचेतन कहानी' की व्यूह-रचना हो रही है । लेकिन आगे हुए ६ महीने में कहानी के लिए एक नये नाम की जरूरत पड़ेगी । ऐसे नाम अभी मे सोच कर रखने चाहिए ।

कुछ नाम मैं सुझाता हूँ—

अचेतन कहानी, रेचन कहानी, विरेचन कहानी, विवेचन कहानी, रामावतार चेतन कहानी ।

मुझे अब यह समझ में आने लगा है कि कहानी लिखना कोई अच्छा काम नहीं है । मगर अच्छा काम तो जेब काटना भी नहीं है । फिर उसे लोग क्यों करते हैं ? क्योंकि पैसे मिलते हैं कहानी लिखने से भी पैसे मिलते हैं न !

पिछला महीना दिलचस्प वक्तव्यों का महीना था । डॉ० प्रभाकर माचवे ने कहीं कहा कि रोटी से आदमी के विचार नहीं बनते । बात बिल्कुल ठीक है । मगर मेरा नम्र निवेदन है कि रोटी पर जो घी चुपड़ा जाता है, उससे तो बनते होंगे ।

अभी पिछले महीने की 'ज्ञानपीठ पत्रिका' मेरे हाथ में आ गयी । कर्तार सिंह दुग्गल ने लेख लिखा है कि मैं क्यों लिखता हूँ वे क्यों लिखते हैं, देखिए—

“मैं लिखता हूँ क्योंकि दिल के इस कोने में एक दुलहिन छिपी बैठी है । इस हसीना का आशकार करना है । इसके यौवन की एक झलक दिखाना है ।”

—हाय हाय !

काश, हमारे दिल के उस कोने में भी बैठी होती ! या हमें वह कोना मालूम होता, जहाँ वह अकसर बैठा करती है ।

बन्धु, दुग्गल जी जैसे सहज भाग्यशाली सब थोड़े ही हैं ।

पत्र समाप्त होता है । अब एक मिथ्या औपचारिक वाक्य लिखना बाकी है—आशा है आप सानंद हैं ।

सस्नेह

ह० शं० प०

बीस

प्रिय बन्धु,

मैं जो ये चिट्ठियाँ आपको लिखता हूँ इनके बारे में एक मित्र का कहना है कि ये बहुत सोपी-सो होती हैं यानी गऊ चिट्ठियाँ होती हैं मैंने उनसे पूछा माने कैसी चिट्ठी लिखी जाए। उन्होंने सम्पादक के नाम पत्र वाले स्तम्भ की परम्परा बतायी और कहा—कुछ ऐसा लिखो—भजी सम्पादकजी महाराज, जय वम भोले की ! भागे जो है सो जानता कि मैं कल शाम को एक लोटा भंग ध्यान कर खटिया पर लेटा, तो मुझे तीनो लोकों में लेखकों के तम्बू गड़े दिखने लगे। हर तम्बू के सामने तलवार लिये साहित्य का संतरी खड़ा है और भीतर साहित्य के नवाब जलतरंग सुन रहे हैं। इतने में विगुल बजने लगा, साहित्य के सिपाही लड़ने लगे और साहित्य के साहब चिक उठा कर देखने लगे।

—मैंने कहा—मुझ्मे ऐसा लिखते नहीं बनेगा।

मित्र बोले—कैसे बनेगा ? विजया धानो तो ऐसा लिख सकते हो। तुम लोगों में मस्ती नहीं है, पस्ती है। हम लोग न विजया धानते, न 'भारत भारती' दालते।

मैंने टोका—यह 'भारत भारती' क्या है ? यह तो राष्ट्रकवि के आदिग्रन्थ का नाम है। हमने भी तब गाया था—भगवान् भारतवर्ष में गुंजे हमारी भारती।

मित्र ने कहा—हम तो देशी शराब को 'भारत भारती' कहते हैं, विदेशी को 'भ्रान्त भारती'। गाँजे को 'शोघ्रबोध' कहते हैं और यह 'तुरती' से अधिक सुसंस्कृत नाम है। तुम बदरोविशाल पित्ती को लिखता। वे हिन्दी के लिए लड़ने वाले हैं। उन्हें ये नाम जरूर पसन्द आएँगे।

बन्धु, मैं उनके आदेशानुसार लिख रहा हूँ। उस वक्त तो मैंने उन्हें एक-दो नाम खुद सुझा दिये।

मैंने कहा—आदेशों को 'अल्लूरी' कह सकते हो। और आदेश

राष्ट्रकवि के ग्रंथों पर से ही नशों के नाम रखना है, तो चरस को 'जयद्रथ-वध' क्यों नहीं कहते ?

वह हिन्दी पारिभाषिक शब्दावली को मेरी देन स्वीकार करके चला गया और मैं पूरे होशोहवास में आपको यह सीधा-सा पत्र लिखने बैठ गया। 'क ख ग' में प्रकाशित आपका लेख 'साहित्यिक पत्रकारिता' अभी पढ़ा है। पहले तो सोचा कि लेख की तारीफ़ कर दूँ, पर फिर विवेक के कहने से इरादा त्याग दिया। सम्पादक की तारीफ़ करने में खतरा यह रहता है कि वह उसे पाठकों के पत्र में छाप देता है। और सम्पादक लेखक के साथ यह डर नहीं रहता।

इस लेख में आपने बड़े दर्द से लिखा है कि हिन्दी लेखकों में आत्म-सम्मान नहीं है। मेरा आपसे मतभेद है। शायद आप इस शब्द का वह अर्थ नहीं निकालते, जो आम लेखक निकालते हैं। ग़लत अर्थ-बोध के कारण आप व्यर्थ दुःखी होते हैं और सही अर्थ निकालने के कारण हम सुखी हैं। आत्म-सम्मान का अर्थ हुआ, अपना सम्मान करना अथवा लेना। इस अर्थ में तो मुझे चारों तरफ़ हिन्दी में आत्म-सम्मान ही आत्म-सम्मान दिखता है। बहुत कम लेखक ऐसे मिलेंगे, जो सम्मान लेने में कमज़ोर पड़ेंगे।

आत्म-सम्मान की समस्या वहाँ खड़ी होती है, जहाँ लेखक देखता है कि दूसरे मेरा सम्मान करने की तरफ़ कुछ ध्यान नहीं देते। वह इस चुनौती को स्वीकारता है और 'आत्म-सम्मान' के लिए कमर कस लेता है। कठिनाइयाँ कितनी भी सामने आएँ, वह अंततः आत्म-सम्मान करने-कराने में सफल हो हो जाता है।

जो बहुत समर्थ हैं, वे तो अपने अभिनंदन का आयोजन स्वयं कर लेते हैं। खुद धन का इन्तज़ाम कर देते हैं, अभिनंदन ग्रंथ छपवा देते हैं और चार आदमी बुला कर उसे उनके हाथ से ले भी लेते हैं।

लेकिन जो इतने सामर्थ्यवान नहीं हैं, वे भी आत्म-सम्मान के रास्ते निकाल लेते हैं। आचार्यों की चंगुल में ज्यों-कोई शोध-...

ये उससे सेरा लिखवाना शुरू करवा देते हैं—'आचार्य धर्मक की शैली।' एक भी दो. एच. डी. आपको हिन्दी में नहीं मिलेगा, जो लेख विरो बिना डिप्री पा गया है।

गुरु अपने बारे में संक्षेप लिख कर उसे किंगो दूसरे के नाम से प्र. मेत्र देना तो आत्म-सम्मान की बनाविकल शैली है। यह युग-परिचित धौर—धौर युग स्वीकृत भी।

इधर आत्म-सम्मान को कुछ नयी शैलियाँ भी प्रकट हुई हैं। जब मैं एक विद्यालय में पढ़ाता था, तो एक प्रतिष्ठित प्रौढ़ लेखक-कार्य मुझसे कहते थे कि अपने विद्यार्थियों से कहना कि परीक्षा में 'मेरा प्रिय कवि' पर लेख लिखने को कहा जाए, तो मेरे विषय में लिखें। अपने बारे में एक लेख उन्होंने मुझे लिख करके भी दिया था। मैंने लड़कों को वह लिखा दिया। परीक्षा में यह पूछा भी गया क्योंकि प्रश्न-पत्र उक्त लेखक ने ही निकाया था। जब लेखक इतना सतर्क है कि परीक्षा कापी में भी यश खोजता है, तब आप कैसे कह सकते हैं कि लेखकों में आत्म-सम्मान नहीं है।

'तू मेरी तारीफ कर; मैं तेरी कहूँ—वाली आत्म-सम्मान की शैली तो सर्वविदित है ही। यह पुरानी हो कर भी नयी है। देवताओं की भी यही शैली है। शिव उमा से राम की तारीफ़ करते थे और राम सीता से शिव की। दोनों देवता गुट बना कर चलते थे।

धौर भी शैलियाँ हैं। मेरे एक मित्र ने मुझे बताया कि हिन्दी में ऐसे शोध-प्रबंध भी लिखे जा रहे हैं, जिनमें छात्र अपने बड़े भैया, उनके २-४ दास्त छो. डप्री दिला देने वाले अध्यापक के ही नाम भरता है, बाकी कुछ नहीं। (भी सोचना है कि अगर छोटा भाई शोध-प्रबंध लिख डाले तो अपने कृतित्व से चाहे 'शोक-समाचार' के बाद हो मर जाऊँ, पर प्रबंध में तो अमर हो ही आऊँगा।

तो वगु, आपको हिन्दी जगत की सही जानकारी नहीं है। कोई आत्म-सम्मान की तरफ़ से ग्राहिल नहीं है।

आप शायद इस बात से दुःखी हैं कि लाभ पाने के लिए लेखक भुक्त हैं, जो हज़ूरी करते हैं, चापलूसी करते हैं। दाता की प्रशंसा अपनी पुरानी परम्परा है। आज यदि लेखक इनाम पाने, नौकरी पाने और तरक्की पाने के लिए थोड़ा कर लेता है, तो क्या बुरा है ?

मैं पिछली मई में बस से यात्रा कर रहा था। बस सरकारी थी। बस का ड्राइवर बड़ा अक्खड़ और जिंदादिल आदमी था। रास्ते में एक जगह सड़क के किनारे सागौन की एक बल्ली कटी पड़ी थी। उसने बस रोकी और कंडक्टर से कहा—यार जमना, हफ़्ते भर से यह बल्ली यहाँ पड़ी है। पड़े-पड़े इसका 'केरेक्टर' (आचरण) खराब हो रहा है। इसे उठा लो। कंडक्टर ने बल्ली उठा कर बस पर रख ली।

बीच के एक स्टेशन पर बस रुकी। सवारियाँ पानी पीने और पान खाने के लिए उतरों। सामने की चाय की दूकान पर उस समय दूसरी बस से उतरे राज्य परिवहन के एक अफ़सर खड़े थे और उनके आसपास एक-दो ड्राइवर-कंडक्टर थे, जो साहब के बच्चे से पूछ रहे थे—बाबा, जलेबी खाओगे। कुछ राजनीतिक बात चल पड़ी। साहब के किसी मत से हमारा ड्राइवर भनभना उठा और उसने साहब को राजनीति समझाना शुरू कर दिया। १०-१५ सुनने वाले उसकी बात से सहमत और प्रभावित हो गये और साहब की बोलती बंद हो गयी और पानी धीरे-धीरे उतरने लगा।

बसें रवाना होने का समय आया, तो वह कर्मचारी जो साहब की बातों पर दाँत निपोर रहा था और बाबा से जलेबी खाने का आग्रह कर रहा था, साहब के साथ बस की तरफ़ चला।

मैं उनके ठीक पीछे था। मैंने सुना, उस कर्मचारी ने कहा—साहब, यह ड्राइवर यूनिन में है !

मुझे विश्वास है, कहने वाले की तरक्की हुई होगी और उस मेरे ड्राइवर को नुक़सान पहुँचा होगा।

जिन लेखकों के कारण आप परेशान होते मालूम होते हैं वे सिर्फ़

यह कहते हैं—साहब, हम यूनियन में नहीं हैं, बाकी सब यूनियन में हैं।

पुरस्कार का मौका होता है, तो ये कहते हैं—साहब, हम यूनियन में हैं। उम्मे पुरस्कार कैसे ? हम यूनियन में नहीं हैं।

ऊँची नौकरी का मौका आता है, तो ये कहते हैं—साहब, हम यूनियन में नहीं हैं।

तरक्की का मौका आता है तब ये कहते हैं—साहब, हम यूनियन में नहीं हैं। फ़लाँ तो यूनियन में है।

कुल इतना इशारा ये करते हैं और इनका फ़ायदा हो जाता है।

मगर ये भी तो आखिर आत्म-सम्मान करते हैं।

नही जनाब, आप की विज्ञा व्यर्थ है। सब अपना-अपना आत्म-सम्मान संभाल रहे हैं।

आपका

ह० शं० प०

इक्कीस

प्रिय बदरीविशाल जी,

जब यह चिट्ठी हैदराबाद पहुँचेंगी, तब आप शायद जेल में होंगे। आपने महंगाई के खिलाफ सत्याग्रह किया है, ऐसा मैंने अखबारों में पढ़ा था।

एक 'सज्जन' मुझसे कह रहे थे कि आप साहित्यिक लोग महंगाई, मुनाफाखोरी वगैरह के चक्कर में क्यों पड़ते हैं ? आप लोग तो कलाकार हैं। आपको तो सुन्दर-सुन्दर कल्पनाएँ करनी चाहिए। आप लोग इन छुद्र भौतिक चीजों में क्यों पड़ते हैं ?

उन 'सज्जन' की बात ध्यान देने योग्य है। मैंने छुद्र भौतिक चीजों को बिल्कुल छोड़ दिया है और मैं भावना खाता हूँ, कल्पना पीता हूँ, दर्शन का मारता करता हूँ और कला के कपड़े पहनता हूँ। मुझे गेहूँ और चावल के भाव से मतलब नहीं। शक्कर बाजार में है या नहीं—इसका मुझे

कोई ज्ञान नहीं ।

बन्धु, आप भी व्यर्थ ही जेल गये । मुनाफ़ाखोरी, कालावाजारी वगैरह तो हमारी संस्कृति में हैं; बहुत पहिले से हैं । सब जानते हैं कि कृष्ण 'माखन-मिश्री' खाते थे । माखन-शक्कर क्यों नहीं खाते थे ? किसी ने इस पर विचार किया है ? बात यह है कि गोकुल के व्यापारियों ने शक्कर दबा ली थी । बाज़ार में शक्कर थी नहीं, और जो थी भी वह काला-वाज़ार में विकती थी । इसलिए योगिराज भगवान् कृष्ण को मिश्री खानी पड़ी; जैसे हम लोग गुड़ की चाय पीते हैं । जिन व्यापारियों ने भगवान् के अवतार को शक्कर नहीं मिलने दी, वे अगर हमें गेहूँ-चावल से वंचित करें तो आश्चर्य क्या है ? और अनुचित भी क्या है ? यह तो होता आया है, भगवान् के सामने हुआ है, बल्कि भगवान् ने खुद भुगता है ।

मुझे और कारणों से भी आप लोगों के महँगाई-विरोधी आन्दोलन ग़लत लगते हैं । सरकार के नेताओं ने और सरकार के बाहर के नेताओं ने, (जैसे अतुल्य घोष) कहा है कि महँगाई तो विकासशील अर्थ-व्यवस्था का लक्षण है । अब अगर हमें अर्थ-व्यवस्था का विकास करना है, तो महँगाई और बढ़ानी होगी । इन आन्दोलनों का नतीजा अगर यह निकला कि महँगाई कम हो गयी, तो इसका अर्थ हुआ कि आर्थिक विकास रुक गया । इसीलिए जो लोग भी महँगाई कम करने की माँग करते हैं वे सब देश के आर्थिक विकास को रोकना चाहते हैं । ऐसे लोगों को जेल में न डाला जाए तो क्या उन्हें सरकार सौंप दी जाए ?

दूसरी बात यह है कि आप लोगों को अभी यही नहीं मालूम कि देश को हालत इतनी खराब क्यों हैं ? आप लोग अर्थ-शास्त्र, राजनीति-शास्त्र, समाज-शास्त्र वगैरह पढ़ कर अपने-आप को 'वैज्ञानिक' दृष्टि वाला समझ कर विश्लेषण करते हैं और निष्कर्ष निकालते हैं । मगर सच्चा शास्त्र आप लोगों ने नहीं पढ़ा । वह गुरु गोलबलकर ने पढ़ा है । इसीलिए उन्हें साफ़ समझ में आ रहा है कि मारी खराबी का कारण यह है कि धर्म का ह्रास हो गया है । उन्होंने हाल के एक भाषण में कहा भी है । धर्म

भगर रहता तो गड़बड़ होती ही नहीं। तब मैं, जिसके पूर्वज ब्राह्मण थे, सत्यनारायण की कथा कहता और भीख माँगता। आप साहित्य न पढ़ कर खाता-बही लिखते और धंधा करते। तब लालबहादुर नहीं हो सकते थे क्योंकि कायस्थ को शास्त्र पढ़ने का अधिकार ही होता। सब अपनी-अपनी जगह होते और अपना-अपना काम करते।

आप लोग सरकार से आखिर यह माँग क्यों करते हैं कि वह का व्यापार अपने हाथ में ले और बैंकों का राष्ट्रीयकरण करे? गुलजी हाल ही में कहा है कि सरकार का काम व्यापार करना नहीं है, सरकार बनिया नहीं है! आप पूछेंगे कि फिर सरकार का क्या काम है? सरकार का काम है, फौज इकट्ठी करके किले जीतना। आज रायगढ़ किले पर हमला कर दिया, कल सिंहगढ़ जीत लिया, परसो सूरत लूट लिया। यह सरकार किले तो जीतती नहीं है, बनियागिरी चाहती है। जनता के लिए अनाज और शक्कर की जिम्मेदारी न शिवाजी ने ली न राणा प्रताप ने और न छत्रमाल ने। फिर वर्तमान की सरकारों से आप लोग यह क्यों कराना चाहते हैं?

मेरा तो यह सुझाव है कि इस भ्रमकट को यहीं खतम कर देना चाहिए सरकार बिल्कुल इस मामले से हट जाए। जो गेहूँ अमरीका और बने से मूँवा लिया है; उसमें से उन व्यापारियों को गेहूँ वापिस कर दे जिन्होंने छपा गेहूँ उम्मत किया था। उनसे सरकार माफ़ी माँगे, बहे—लो भाई अपना गेहूँ। इसे फिर से दबा लो। सरकार—वर्णाश्रम धर्म को गयी थी, इससे चलती हो गयी। फिर भी गेहूँ बच जाए, तो अखबारों विज्ञप्ति छपा दे कि गेहूँ धा गया है; जिन व्यापारियों को दबाना हो, आकर बन्दरगाहों में से जाएँ। ऐसा करने से एक धर्म-सम्मत व्यवस्था बापम हो ही जाएगी।

बन्पु. आप तो जानते ही हैं कि दाने-दाने पर खाने वाले का नाम पित्त रहता है। अगर मेरा नाम केलिक्रोनिया के गेहूँ के दाने पर पित्त है तो मुझे भारत का गेहूँ खाने के लिए कैसे मिल सकता है? धातिर

६६ ** और अत में...

ईश्वरीय विधान भी तो कोई चीज है ? जब पाकिस्तान के चावल पर अपना नाम लिखा है, तो भारत में पैदावार बढ़ाने से क्या होगा ?

मुझे तो ऐसा लगता है कि जब हमारा नाम अमरीकी गेहूँ पर ही लिखा है तो क्यों न भारत सरकार केलीफोर्निया में कुछ खेत ले ले और अपने देश की खेती उन खेतों पर हो । भारत का कृषि विभाग अगर केलीफोर्निया में अन्न उत्पादन कराए तो क्या हर्ज है ? जब अमरीका दूसरे देशों में सैनिक अड्डे बना लेता है, तो क्या हम अमरीका में अपनी खेती भी नहीं कर सकते ? हमने देख लिया कि भारत की भूमि तो कुछ देती नहीं । इसलिए जहाँ की भूमि देती है वहीं हमें खेत खरीद लेना चाहिए । हमारे गेहूँ के खेत अमरीका और केनेडा में हों, चावल के खेत बर्मा और पाकिस्तान में और गन्ने की खेती हम मलयेशिया में करें । तब कम से कम यह संतोष तो रहेगा कि अपने ही खेतों की उपज हम खा रहे हैं ।

मुझे विश्वास है कि इस चिट्ठी को पढ़ कर आपको अपने आन्दोलन की व्यर्थता समझ में आ जाएगी ।

इस बार मैंने साहित्यिक जगत की हलचल के बारे में नहीं लिखा । बहुत लोग इन आखिरी पृष्ठों को पलटाएँगे और निराश होंगे । कुछ प्रसन्न भी होंगे ।

आशा है, कारागार में कोई महाकाव्य आप ज़रूर लिख रहे होंगे ।
बुजुर्गों ने कहा है—

कारागार निवास स्वयं ही काव्य है ।

कोई कवि बन जाए सहज संभाव्य है ॥

सस्नेह,
ह० शं० प०

वार्ड्स

निय बन्ध,

नियमे महीने धारके पत्र नहीं निगमना । यान यह हुई कि ११
 टारोथ की मुक्तिबोध जो की मृत्यु हो गयो घोर में दिल्ली बला गया ।
 वहाँ जा कर देगा कि मुक्तिबोध तो महान मान निये गये । मुझे बन्धना
 हुई कि मुक्तिबोध घटने गान सहजे में इन पर मो प्रतिक्रिया व्यक्त करते—
 'बाह पार्टनर, यह भी बड़े मड़े की बात है । बाह साहब ! यह भी खूब
 है !' मुक्तिबोध अब मृत्यु के पान पहुँच गये, तब बताने जानों ने बताया
 कि यह तो समाधारण है । घोर अब उनको मृत्यु हो गयी तब बताया
 कि यह तो महान् था । जो इनने सानों में कहते रहे थे कि मुक्तिबोध
 ब्रिडा नहीं निगने, भावण देने है, वे भी जय बोलने पकड़े गये । मावर्न-
 बादी विरवालों के कारण जो उन्हें ब्रि नहीं मानने थे, वे भी कहने लगे
 कि उन विरवालों के 'बावर्न' यह बड़ा ब्रि था । घोर जो प्रगतिशील
 कर्मन्ने, सिद्धं मारों की समझ के मातिक होने के कारण, उनके विपट
 बिकों को घोर उन्हें गुप्तते विचारों को नहीं समझते थे, वे भी मानने
 लगे कि हाँ, यह बड़ा ब्रि था ।

मुझे मुक्तिबोध की आवाज सुनाई देती है—बाह 'पार्टनर, जरा यह
 मजा भी देनी । बाह साहब, यह भी खूब रही ।'

मैं सोचता हूँ, अगर मुक्तिबोध जीवित रह जाते, तो क्या होता ?
 तो क्या लोग सही बात बतलाते ? मुझे शक है, अभी घोर दबाये रहते ।
 और अगर एक मुख्य मंत्री और प्रधान-मंत्री उन्हें विशेष व्यक्ति के रूप में
 मान कर उनकी चिकित्सा में दिलचस्पी न लेते तो ? मुझे शक है, बहुत
 शक है—कि यदि वे मामूली अस्पताल के जनरल वार्ड के किसी बिस्तर
 पर पड़े-पड़े दम तोड़ते, तो भी लोग कुछ समय घोर उनके बारे में सत्य
 को दबाये रहते । सही मूल्यांकन के लिए अभी भी लेखक को कितनी
 परिस्थितियाँ पैदा करनी पड़ती हैं—कठिन बीमारी, मुख्य मंत्री, प्रधान

मंत्री, मौत ! मुझे पता है कि जो ५०-६० मील भोपाल देखने नहीं आये, वे विह्वल हो कर ४०० मील दिल्ली दौड़ते गये—लगभग मूर्च्छित-से हो कर ! प्रधान मंत्री ने मरने वाले को बुलाया था न !

मुझे मुक्तिबोध का अट्टहास फिर सुनाई देता है—‘वाह साहब, यह भी खूब है !’

इस बात को यहीं छोड़ता हूँ ।

एक नयी बात हुई । अभी उस दिन मुझे कृष्णचन्द्र का गधा मिल गया । वही गधा, जिसने अपनी आत्म-कथा लिखी है ।^१

मुझे वह सड़क पर मिल गया । मैंने पूछा—कहिए गधा जी, कहाँ से आ रहे हैं ?

वह नाराज़-सा हो कर बोला—क्या तुम नहीं जानते ? तुमने क्या मेरी किताब नहीं पढ़ी ? मैं अभी नेफ्रा से आ रहा हूँ ।^२

मैंने पूछा—क्या किया वहाँ ?

वह बोला—वहाँ मैंने देशभक्ति का उपदेश दिया । फिर सीमा पार करके चीन चला गया और वहाँ चाऊ-एन-लाई से भी मिला । उससे मैंने बातचीत की ।

मैंने कहा—यह तो तुममें ठीक किया । मगर इससे निष्कर्ष ऐसे निकल सकते हैं, जिनसे तुम भी आफ़त में पड़ सकते हो और अपने लेखक को भी डाल सकते हो ।

गधे ने कानों के प्रश्न-चिह्न खड़े कर लिये और आदतन उत्सुकता से देखने लगा ।

मैंने कहा—तुम्हारे इस वयान से यह मतलब निकल सकता है कि चीनी हमले के बाद देशभक्ति के उपदेश गधे देते थे और चीनी नेताओं से वार्ता करने भी गधे ही गये थे ।

उसने कहा—यह मतलब कहाँ से निकलेगा ?

१ संदर्भ : ‘एक गधे की आत्म-कथा’ । २ संदर्भ : एक गधा नेफ्रा में (कृष्णचन्द्र) ।

मैंने कहा—पुष्टारे इस प्रकाशित बयान में । अच्छा, बताओ, चीन की मजदूरी में बिगने बात की ?

—बाउ-एन-माई में ।

—घोर घपनी तरफ में ?

—मैंने ।

मैंने कहा—किस ?

वह बोला—नेकिन मैंने इस मजदूरी में इस चीज की देखा ही नहीं ।

मैंने कहा—यही तो बात है, गया परशाद जो, कि जो मजदूरी का इन गया भी इन गया । दुनिया बदल जाए, पर मजदूरी नहीं बदल सकता । पत्थर की भांग है, त्रिगुणी पुनर्जी नहीं हिलती ।

मैंने सोचा, यह कृष्णचन्द्र का गया है, इसे बहुत-सी घन्दरुनी बातें भी मान्य होगी । इसमें कुछ जानकारा हासिल कर लूँ ।

मैंने कहा—एक प्रतिष्ठित प्रगतिशील सेक्टर के गये होने के कारण, मुझे प्रगतिवादी धान्दोवन की बहुत-सी बातें मान्य होंगी । जरा यह तो बताओ, पहले कुछ प्रगतिवादी होने से घोर कुछ प्रतिक्रियावादी होते से घोर वे एक दूसरे पर प्रहार करते से घोर भिन्न-भिन्न भाषाएँ बोलते से । मगर अब ऐसा क्यों होता है कि दोनों तरफ के बुजुर्ग एक ही मोर्चे पर पा जाते हैं, एक ही भाषा बोलने हैं घोर पिछले १०-१२ वर्षों के साहित्य का निरूपण करने हैं ?

गये ने कहा—इसमें अचरज की क्या बात है ?

मैंने कहा—यही कि अगर मान-मूर्खों की ही बात होती, तो जो प्रगतिवादी के लिए 'बुरा' होगा, वह प्रतिक्रियावादी के लिए 'होना' । ऐसा ही तो होता आया है । अब क्यों नहीं होता ? क्या सब समयों प्रगतिशील प्रतिक्रियावादी हो गये हैं या सब पुराने प्रगतिशील हो गये हैं ?

गये ने खममधारी से मिर हिलाया । बोला, मैं समझा । ७ १५
मन्त्र यह है कि पिछले १०-१२ वर्षों के लेखन की शिबदानसिंह ने

भी कोई 'उपलब्धि' नहीं मानते और वे भी नहीं मानते जो चीहान साहब के विचारों के विरोधी हैं। देखो भाई—

मैंने टोका—गुणा करके मुझे 'भाई' मत कहो। कोई लेखक सुन लेगा तो बदनामी होगी। लोगों में विनोद-चेतना है नहीं इसलिए किसी मजाक को ले कर वे महीनों सिर धुनते रहते हैं।

गधा बोला—खैर, तुम्हें भाई नहीं कहूँगा। मगर जो पूछा है, वह समझ तो लो। देखो मान-मूल्य कोई साहित्यिक या दार्शनिक ही तो होते नहीं हैं। व्यावसायिक मूल्य भी होते हैं। उनका भी ध्यान रखना पड़ता है। फिर, जैसा तुमने कहा, एक ही तरफ़ लगातार कई साल देखने से, एक ही बिंदु देखते रहने से, आँख पथरा जाती है। फिर उसकी पुतली नहीं धूमती। जिनकी पथरा गयी है, उनके लिए क्या करोगे? तुम दूसरी आँखें लगवाने की कोशिश करोगे, तो वे बुरा मानेंगे। वे अपनी आँखों को ठीक मानते हैं। दूसरी बात यह है कि कोई कितनी ही प्रगति बघारे २०-२५ सालों में वह यथास्थिति से चिपक जाता है। उसे पकड़े रहता है। प्रतिक्रियावादी कहलाने वाला तो पहले से ही उसे पकड़े रहता है। दोनों मिल कर उसे जकड़ लेते हैं कि सब यहीं थमा रहे। यही हो रहा है।

वह थोड़ी देर सिर नीचा किये चिंतन करता रहा और मैं उसकी बात को समझने की कोशिश करने लगा।

उसने सिर ऊँचा किया। बोला—बात समझ में आयी? देखो, यह तो एक चक्र है। हर १०-१५ साल में आगे बढ़ने वाला एक ही जगह पाँव पटकने लगता है। वह 'शास्त्री' हो जाता है। शास्त्री वह जो दुनिया के हालात को सच्चा न माने, शास्त्र-वचन को सच्चा माने। जिन प्रगतिशीलों को तुम शिकायत कर रहे हो, वे शास्त्री हो गये हैं। शास्त्र में लिखा है कि रोना विदेशी है और वूर्जुआ प्रवृत्ति है, तो तुम उनके सामने घड़ों रो लो तब भी वे यही कहेंगे—नहीं, तुम नहीं रो रहे हो। तुम्हारे भीतर का विदेशी रो रहा है। देशी और खासकर प्रगतिशील

देशी, न रोता है, न निराश होता है, न गाना गाता है। वह 'सरफरोशी' करता है।

गधे ने कान फड़फड़ाये। बोला—अब मैं चला। अपने लेखक का भाग का हाल बताना है। वह इंतजार कर रहा होगा। उसे च किताब लिखना है।

गधा चला गया। और मैं थोड़ी देर दुनिया में खड़ा रहा कि वार्तालाप की चर्चा किसी से करूं या न करूं। चर्चा करने से लोग कि हम तो शंका-समाधान के लिए परिचर्चा करते हैं, और यह गधे पूछता है। फिर सोचा कि भापको लिख ही दूँ। लिख रहा हूँ। जो भी मतलब निकले।

सस्नेह,

ह० श० प०

तेईस

प्रिय बन्धु,

पिछले पत्र को पढ़ कर कुछ लोगो ने मुझसे कहा कि बोध का विषय उठा कर उसे बीच में ही छोड़ दिया। इस संबंध लिखा था। लिखने को बहुत है। विचित्र प्रतिक्रियाएँ हिन्दी जगत में महीनो हुई हैं।

मुक्तिबोध जब तक भोपाल में थे, तब तक हिन्दी के लेखक के विचारों बड़ी दुविधा में थे। जिनकी मुक्तिबोध के प्रति आत्मीयता थी जो उनके कवि का विराटता को समझते थे, वे तो बिना दुविधा के सेवा में लगे थे। मगर कुछ के मन में बड़ी घुक्घुकी थी। इनमें दो के लोग थे—एक तो वे जो 'मखिल भारतीयता' के लिए बहुत सचेत हैं और दूसरे वे जो जीवन और कला में 'भामिजात्य' के लिए हर सचेष्ट रहते हैं। जिन्होंने घासलेट के तेल के डिबरी के प्रकाश में घटाई

पर घैठ कर पढ़ाई की, ये जब 'अभिजात' बनते हैं, तो सच्चे अभिजात से ज्यादा सचेत होते हैं। बेचारे नहीं जानते कि अभिजात्य के संस्कार कई पीढ़ियों में पड़ते हैं; वे सिर्फ बगीचे में नागफनी लगाने और पदों का कपड़ा बदलने से नहीं आते। तो साहब, जो 'अखिल भारतीयता' वाले थे वे सोचते थे कि यह मुक्तिबोध का मामला कुछ 'प्रविशल' है। (लेखक की प्रार्थना—उस शब्द को बदल कर हिन्दी शब्द न रखें।) अगर हमने इसमें दिलचस्पी ली और यह खबर कहीं दिल्ली, प्रयाग और कलकत्ता पहुँची, तो अपनी बड़ी बदनामी होगी। लेखक हम पर हँसेंगे और हमारे स्तर के बारे में शक करने लगेंगे। हम कैसे मुँह दिखाएँगे! तो बन्धु, ये बेचारे 'जाऊँ' और 'न जाऊँ' की दुविधा में पड़े बड़े दयनीय लगते थे।

जो 'अभिजात्य' के दीवाने थे, वे इस तरह सहानुभूति का दान करते थे, जैसे कट्टर ब्राह्मण, कपड़े बचाता हुआ, हरिजन के कटोरे में ऊपर से रोटी छोड़ता है। उन्हें लगता था कि यह आदमी अपनी जाति का है ही नहीं। उन दिनों तरह-तरह की दिलचस्प बातें सुनाई पड़ती थीं। कहीं से खबर आती थी कि ये लोग मुक्तिबोध का क्या बनाएँगे? फ़रिश्ता या पैगम्बर? फिर कहीं से सुनाई पड़ता कि वह तो कवि ही नहीं है। ये पिछड़े हुए लोग हैं, जो उसका आदर्शोक्ति कर रहे हैं। फिर कोई निहायत आत्म-पावित्र्य के लहजे में कहता—अरे, यह आदमी तो—'निस्ट' है! (जी हाँ पूरा शब्द कहते डरते थे और आसपास देख लेते थे।) और यह पट्टी चिपका कर उसके बारे में अपना अन्तिम निर्णय देकर चले जाते थे।

मगर बन्धु खलबली तब मची, जब मुक्तिबोध दिल्ली गये। बड़े सवाल हुए—कैसे जा रहे हैं? प्रधान मंत्री ने बुलाया है। अच्छा! खर्च कौन देगा? प्रधान मंत्री! अच्छा! कहाँ इलाज होगा? मेडिकल इंस्टीट्यूट में। अच्छा! कैसे हो गया यह प्रबन्ध? प्रधान मंत्री ने खुद दिलचस्पी ली। अच्छा!—अब लगा कि मामला अखिल भारतीय हो गया। अब तो जो इसमें दिलचस्पी लेगा, वह भी अखिल भारतीय होगा, अन्त-

राष्ट्रीय भी हो सकता है। इतने में खबर फैली कि आभिजात्य के महा-संचालक ने भी मुक्तिबोध को बड़ा कवि मान लिया है और उसे अपना लिया है।

भव बहुत दिलचस्प नाटक शुरू हुए। इसका आनन्द दर्शकों ने तो लिया ही अभिनेताओं ने भी एक-दूसरे की धदाकारों का भजा लिया। इतने में एक और राजव हो गया। अंग्रेजों के एक पत्र में मुक्तिबोध के साहित्य पर अंग्रेजी में एक लेख लिखा गया, जिसमें उसकी बहुत तारीफ की गयी। तो सोचा कि अगर अंग्रेजी वाले भी इसे मानते हैं, तब तो पार, यह बड़ा कवि होगा। यह प्रतिक्रिया ठीक उस देहाती की प्रतिक्रिया जैसी थी, जो गोरे साहब की देख कर अभिभूत हो जाता था।

भव मजे की बातें हुईं। दार्शनिक अंदाज में कहा जाने लगा कि वह 'शब्द' का नहीं 'आत्मा' का कवि था। नये आभिजाती ने उस मरकटिया जैसे व्यक्तित्व के कवि की अमलतास के प्रतीक से अंदाजलि अर्पित की। और तरह-तरह की बातें हुईं। हम सब अपने को बहुत आत्म-सचेत और स्वतंत्रचेता साहित्यकार मानते हैं न!

वह तो चला गया। भव अपना और क्या कर्तव्य बचा? अभी कर्तव्य बहुत बकाया है। भव उसके शुभचिंतकों में आपसी मीचतान मचनी चाहिए। अलग-अलग लोग उसके शुभचिंतक रहे, पर अगर एक-दूसरे के शुभचिंतक नहीं हैं तो उनके सामने अभी बहुत काम है। वे एक-दूसरे को बदनाम कर सकते हैं और ऐसा वातावरण पैदा कर सकते हैं कि प्रागे कोई किसी की सहायता करने में डरे। इससे बड़ा काम यह होगा कि कोई लेखक किसी की भ्रष्ट में नहीं पड़ेगा और सब अलग-अलग भकेले मरेंगे।

दूसरा काम यह है कि अगर किन्हीं को आपसी लड़ाई चली आ रही है, तो हम प्रसंग में एक दूसरे से बदला लिया जा सकता है। जो भव प्रतिवाद नहीं कर सकता, उस मुक्तिबोध के शब्द भव बड़े मजे में उपयोग में आ सकते हैं। मुझे यह देख कर खुशी होती है कि हिन्दी लेखक बड़ा

सनेत है और उसने फ़ौरन जहाँ-तहाँ यह काम शुरू कर दिया है।

राजनांदगाँव छोटी जगह है मगर वहाँ के लोगों ने कवि को बहुत प्यार और आदर सम्मान दिया। पिछले जन्मदिन पर वहाँ महाविद्यालय में एक समारोह किया गया। वहाँ एक पुस्तकालय भी मुक्तिबोध की स्मृति में स्थापित कर दिया गया है। मगर संयोजकों ने बताया कि कुछ लोग कह रहे हैं कि मुक्तिबोध के नाम से ये लोग अपने को आगे बढ़ा रहे हैं। मैंने कहा, भई, वे शायद ठीक कह रहे हैं। तुमने तो काम किया मगर आगे उन्हें बढ़ जाना चाहिए था जिन्होंने कुछ नहीं किया। तुम कुछ ऐसा करो कि तुम्हारे काम से वे आगे बढ़ जाएँ। कोई भी भला काम तब तक पवित्र नहीं होता जब तक हमें उसका श्रेय न मिल जाए। यह बहुत सुलभो हुई विचार प्रणाली है और इसे ग्रहण करने वाला हमेशा आश्वस्त रहता है। वह जानता है कि सिर्फ़ उसी वारात में शामिल होना चाहिए, जिसमें खुद ढूँढा हों। जिस वारात में हम ढूँढा न हों, उस पर अपने छज्जे से पत्थर फेंकना चाहिए।

एक दूसरी तरह के लोग हैं जो स्थायी रूप से 'हाय हाय' की मन-स्थिति में रहते हैं और सस्ते फ़िल्मी नायक की तरह नारे लगाते हैं— 'हाय रे समाज, तू कितना अन्यायी है। हाय, हम कितने निर्मम और कठोर हैं कि हमने उसे मर जाने दिया और अब हम उसकी जय बोलते हैं!' ये लोग आत्म-पावित्र्य से आक्रांत हैं और एकांगी विचार इनके होते हैं। यह आसान होता है, क्योंकि इसमें सब पक्षों से समस्या पर विचार करने की मानसिक मेहनत नहीं करनी पड़ती। भावुकता से भरी आत्म-ग्लानि बड़ी अच्छी लगती है, कहने वाले को भी और सुनने वाले को भी। ये बेचारे चारों तरफ़ तलवार घुमाते हैं, क्योंकि ये नहीं जानते, शत्रु कौन है। इनकी बात को भावुकता से अलग करके देखा जाए, तो उसका यह अर्थ निकलेगा कि मुक्तिबोध की चर्चा ही न हो। क्यों न हो। क्योंकि हम 'पापियों ने पहले नहीं की। तो क्या हम 'पापी' अब भी न करें? नहीं, अगर चर्चा करनी ही होगी, तो 'मैं' करूँगा।

कुछ ऐसे हैं, जो कहते हैं चर्चा तो हो, लेकिन जरा हमें बता हो। निगा जाए, तो पहले हमें बता दिया जाए। ये जब भी के बारे में कुछ निगा पड़ने है, तो कहते हैं—'छिः क्या निगा है।' इनकी स्थिति ऐसी है कि जो सही है, वह तो इसके पास जादू की द्विधा में बंद है। वे तो द्विधा सोचने नहीं, सिर्फ 'छि-छिः' करेंगे। ये लोग मुक्त के गुण-वर्णन को उनके प्रति धन्याय समझते हैं। इनके हिसाब से महाकाव्य रचयिता टुप्पे आदमी टुहरेगे।

मगर इन सबसे घबरा, वे बैठे हैं जो न भावुक होते हैं, न जिन्हें कोई ग्लानि होती है और न जो शोकग्रस्त होते हैं। वे बहुत नित्यता भाव से, सारी भावनाओं से मुक्त हो कर, यही देखते रहे हैं कि इस मामले में से घबरा क्या बन सकता है। ये हिमाय से चलते हैं और मुनाफे के भंदाज से पूंजी लगाते हैं। ये सटोरिये की चालाकी से बाजारभाव के उतार-चढ़ाव देखते हैं और दांव लगा देते हैं। ये मौके को ज्वार के मुट्ठे की तरह बंटव से पकड़ कर उसके सारे दाने झाड़ लेते हैं। भर्षी पर फेंके गये पैसे बटोरना भी तो एक काम है, और कुछ लोग करते ही हैं।

बन्धु, पिछले दिनों ये सब दिसचस्प बातें होती रही हैं और मैं देखता रहा है कि बात किन्हीं भी मूल्यों की करें, जिन मूल्यों से परिचालित होते हैं, वे साहित्य के बाहर के होते हैं, शायद बाजार के होते हैं।

और सब पहले जैसा ही है। धारा है, भाषा लोग सानंद हैं।

सस्नेह,

६० शं० ५०

चौबीस

प्रिय बन्धु,

कभी-कभी मुझे बड़ी ग्लानि होती है। मुझे लगता है, मैं बहुत निकृष्ट आदमी हूँ और लेखक तो खैर ही हो नहीं।

इस महीने दो-तीन कारण ऐसे हो गये जिनसे मुझे आत्म-ग्लानि होती रही है। उपयोग कर सको, तो आत्म-ग्लानि भी बढ़िया चीज है, इसके रस से कविता बनती है। मगर मैं कवि हूँ नहीं, इसलिए भोगता हूँ और उपयोग कर नहीं पाता।

ग्लानि का कारण बताता हूँ। अभी मैंने अपने एक आदरणीय लेखक का लेख पढ़ा, जिसमें उन्होंने कहा है कि मैं ईश्वर को खोज रहा हूँ। पढ़ कर मैं तो चकरा गया। सोचा, एक मैं हूँ कि रायल्टी खोजता हूँ, पारिश्रमिक खोजता हूँ या गेहूँ, चावल और शक्कर खोजता हूँ। और ईश्वर ये हैं कि रायल्टी खोजते हैं न पारिश्रमिक। न पुरस्कार की कोशिश करते, न मान-सम्मान चाहते। उन्हें गेहूँ-चावल से भी मतलब नहीं है। वे तो बस ईश्वर खोजते हैं। वही उन्हें रायल्टी दिलवाता है, वही पारिश्रमिक बढ़वाता है और वही गेहूँ-चावल पहुँचाता है।

मैंने निश्चय किया कि मैं भी सब कुछ छोड़ कर ईश्वर को खोजूँगा। पर फिर सोचा कि जब इन्हें अभी तक वह नहीं मिला, तो मुझ अधम को क्या मिलेगा। ये जब कुछ पता-ठिकाना उसका बता देंगे, तब मैं भी उधर ही उसे खोजूँगा।

मेरे एक मित्र ने मुझे बताया है कि जो लोग ईश्वर को खोजते हैं, खुद उन्हें ईश्वर खोजता फिरता है। ये ईश्वर को खोजते इस गली में मुड़ते हैं, तो पीछे आता ईश्वर उस गली में मुड़ जाता है। इस तरह जिन्दगी-भर यह भूल-भुलैया चलती रहती है। आज तक आमना-सामना नहीं हुआ। होता यह है कि दोनों एक दूसरे को यह बताते हैं कि हम तुम्हें खोज रहे हैं मगर हर बार एक दूसरे को टरकाते हैं। पता नहीं यह क्या खेल है। अपने से यह आध्यात्मिक खेल नहीं बनता, इसलिए ग्लानि होती है। ऐसी ही ग्लानि मुझे तब होती है जब किसी आत्म-न्वेषी का सामना होता है। सालों ये अपनी आत्मा की खोज करते हैं, जैसे वह अफ्रीका का जंगल हो। पूरी जिन्दगी में भी अपनी आत्मा की खोज पूरी नहीं होती। अपनी आत्मा से निवटें, तो दूसरों की आत्माओं

को गोड़ें। अनेक आत्माएँ इंतजार करती रहती हैं कि ये हमारी शोष करने मगर उन्हें अपनी आत्मा से ही झुरसात कहाँ मिलती है। आत्मान्वेषी से मेरा सामना होता है तो मैं उसी तरह अपने को धनुरधर करता हूँ जिस तरह शेरपा तेर्नाजिम के सामने बहँसा। मैं, जिसने बिराट्ट घट्ट आत्मा है कि जगदी शोष बिन्दगी भर पूरी होती। घोर यह एक मेरी है—घाटी-नी।

जानि मुझे इस महीने तब भी हुई, जब एक आस्थावान सेतक मुझे डीटा। वे कहने लगे—“तुम लोग सबके सब आस्थाहीन हो। तुम्हारी आस्था नहीं है। बिन्ही मूल्यों के प्रति तुम नहीं हो।”

मैं खुरचाप उनके पीछे हो लिया कि पता तो लगाऊँ कि इनकी आस्था कहाँ है। मैं भी वहीँ आस्था जोड़ लूँगा। तो मैंने देखा कि वे पाठ्य-पुस्तक समिति के सदस्यों के घर एक के बाद एक जा रहे हैं। इसके बाद वे राजधानी पहुँचे और वहाँ शिक्षा मन्त्री की सीढ़ियों पर पड़े-भर लड़े-झड़े धूप सापने रहे। फिर तीन दिन वहाँ रह कर वे यह प्रयत्न करते रहे कि मुझ पर सिर्फ़ एक बार मुख्यमंत्री को नजर पड़ जाए। सिर्फ़ एक कृपा-नटास के लिए वे सात्तामित थे। शाम को मैंने उनसे पूछा—आपकी आस्था कहाँ है? उन्होंने कहा—देखा नहीं तुमने? पाठ्यपुस्तक समिति में, शिक्षा-मन्त्री में और मुख्यमंत्री में मेरी आस्था है। तुम्हारी तो इनमें भी नहीं है। मैंने कहा—मगर किन मूल्यों में आस्था है? वे बोले—जो पुस्तक में पाठ्य-क्रम में लगवा रहा हूँ, उसका मूल्य पौने पाँच रुपये हैं। इसमें मेरी कट्टर आस्था है। मैं इसे कम नहीं करने दूँगा। और जैसा कि शिक्षा मन्त्री ने आश्वासन दिया है और जैसा मुख्यमंत्री की कर्णामय दृष्टि से विदित होता है, अगर मेरी २ पुस्तकें पुस्तकालयों के लिए खरीद ली गयीं, तो कुल मूल्य लगभग २५ हजार रुपये होगा। तुम लोगों मरोगा मैं नहीं हूँ कि किसी मूल्य में आस्था न हो।

बन्धु, समूर्त मूल्य मेरे लिए अब स्थूल हो गये। मैं उन्हें पहचानने

लगा । और मूल्यवानों के आस्थावानों के तमाम चरित्र मेरी समझ में आने लगे । मैं समझ गया कि किन मूल्यों की स्थापना के लिए कोई प्रतिष्ठित लेखक मन्त्रियों की आरती उतार रहा है । कोई क्यों किसी कौड़ी के नेता की आरती उतार रहा है ? कोई क्यों हिसाब रखता है कि किस राज-पुरुष की जन्म-तिथि कब पड़ती है ? क्यों कोई सुनाम-धन्य लेखक राज्यों के मुख्य मन्त्रियों और केन्द्र के मन्त्रियों के चरितगायन के लिए तुलसीदास से ज्यादा तत्पर रहते हैं ? क्यों कोई अपनी बीबी को नौकरी देने वाले के बारे में लेख लिखते हैं ? क्यों कोई अपने को परमश्रेष्ठ और आस्थावान लेखक मान कर प्रकाशन व्यवसाय के मालिकों के बाबा लोगों को घंटों खिलाते हैं ?

ये सब आस्थावान लोग हैं । इन्होंने सारी आस्था को ऐसा पचा लिया कि हमारे लिए बची ही नहीं । आस्था की धारा बहती हुई हम तक आ रही थी कि इन्होंने राह में ही उसे चुल्लू से पी लिया । अब हम कहाँ से पाएँ ? सही है कि इधर आस्था नहीं आयी ।

ईश्वर में आस्था हो सकती थी, मगर उसके नाम से इन आस्थावानों ने सूदखोरी शुरू कर दी । प्रजातन्त्र का यह हाल किया कि एक वोतल शराब रात को पिला कर सवेरे उसने अपने पेट में मतपत्र गिरवा लिया । न्याय की संस्थाओं को खरीद कर जेब में रख लिया । भ्रष्टाचार पकड़ने वाले सरकारी कर्मचारी को बरखास्त कर दिया । लुटेरों की रक्षा के लिए पुलिस तैनात कर दी और लुटने वालों को अध्यात्म सिखाने लगे । लायक को नौकरी नहीं दी और नालायक को ऊँचा पद दिया । पैसा ले कर नम्बर बढ़ा दिये । चापलूसों को श्रेष्ठ पुरुष समझ कर गले से लगाया । बड़े-बड़े विद्यावान, कलावान, टुच्चे, सत्ताधारियों के आस-पास मँडराने लगे और पछताते रहे कि अगर हमारी दुम होती तो कितने काम आती । हर वार असत्य से, अन्याय से, अत्याचार से समझौता किया ।

और शाम को किसी सभा में जब उजले कपड़े पहन कर पहुँचे तो बड़े पवित्र अंदाज में बोले—हाय, आज के लोगों में कोई आस्था नहीं

है। किन्हीं मूल्यों के प्रति निष्ठा नहीं है।

बन्धु, आस्थावानों ने बड़ी आफत कर रखी है। इनके जो मूल्य उन्हें यदि ग्रहण न करें, तो ये हम जैसे 'मूल्यहीनों' को मिटा देंगे। मित्याचार से बड़ा कोई मूल्य अस्तित्व में इस वक़्त नहीं है।

तभी तो ग्लानि होती है, जब किसी आस्थावान का सामना हो है। उसको आस्थाएँ कितनी फलवती निकलीं। और अपनी बैजर में रोपी हुई है।

इसके सिवा बाकी सब ठीक है।

सस्नेह,

ह० शं० प०

पच्चीस

प्रिय बन्धु,

पिछले माह पत्र नहीं लिख सका। मुझे उन दिनों चक्रवर्ती राज गोपासाचारी का डर लगा रहता था कि मैंने लिखा और उनकी भाषी कि अगर हिन्दी में लिखेगा, तो देश निकाला करा दूँगा। फिर पञ्चवार में आप लोगों के मुख्य मंत्री का वक्तव्य पढ़ा कि आन्ध्र में पूर्णों को कही से थूड़ियाँ और कुमकुम भेजा गया, जिससे होकर वे उपद्रव करने लगे। भारतीय नर मर्दानगी दिखाने को उतावला रहता है उतना विवेक या शक्ति दिखाने को नहीं रहता। दिनों जो वक्तव्य मैं पढ़ता था उनसे यह आशंका भी होती थी कि मैंने जन-भाषा में लिखा और जन उसे समझ गया, तो देश की खंडित हो जाएगी। इन दिनों बहुत लोग इंग्लैंड के टोरी दल की तरफ से तर्क दे रहे थे। टोरी दल कहता था कि मंग्रेजों के शासन से यह देश छिन्न-भिन्न हो जाएगा। भारतीय टोरी कहते हैं कि भाषा के हटने से देश छिन्न-भिन्न हो जाएगा। उपद्रव तक के लिए

पास मौलिक तर्क नहीं होते । कुतर्क भी उन्हीं से उधार ।

इन दिनों मुझे दूसरी उलझन परेशान कर रही है । यहाँ बँटे-बँटे में बड़े शहरों में रह कर लिखने वाले तरुणों की रचनाएँ पढ़ रहा हूँ । इनमें अधिकांश मृत्यु-कामी लगते हैं । कोई तो यहाँ तक कहता है कि हम मर गये । कोई कहता है, हम मरना चाहते हैं । कोई कहता है, हम मार डाले गये । एक ने तो मृत्यु की घोषणा कर दी और जब मैं भागता बड़े शहर गया तो देखा कि वे बँटे कलोल कर रहे हैं और साहित्यिक शतरंज की गोठें जमा रहे हैं; वजन बढ़ गया है, चेहरा प्रसन्न है और कपड़े अच्छे हैं । मैं हँसान कि ऐसी कैसी मौत, जिससे वजन बढ़े, प्रसन्नता हो और आदमी सम्पन्न भी होता जाए । मौत ऐसी अच्छी होती हो, तो हम सो बार मरने को तैयार हैं ।

मैंने एक मित्र से पूछा, तो उसने बताया कि ये मरने वाले पुरानी मौत नहीं मरते, आधुनिक मौत मरते हैं । आधुनिकता के दो लक्षण हैं— नीचे सकरी मोरी का पतलून और ऊपर सिर में मौत । मैंने पूछा कि यार, यह मौत इनके सिर के भीतर कैसे आ गयी ? उसने जवाब दिया कि इनका विश्वास है कि जो अपने को मरा हुआ नहीं समझता, वह आधुनिक नहीं है । इनका यह भी खयाल है कि इन्हें यंत्र ने पीस दिया है । कुछ लोग ऐसे हैं, जो मौत का सीधे विदेशों से आयात करते हैं । ट्रांस एटलांटिक एअरवेज और ब्रिटिश ओवरसीज़ एअरलाइंस कारपोरेशन से इनके लिए ताजा मौत आती रहती है ।

बन्धु, मृत्यु-कामियों का मैंने विश्लेषण करने की कोशिश की है । अधिकांश बड़े शहर के 'यंत्र' से पीड़ित हैं और उन्हें लगता है कि 'यंत्र' उन्हें मार रहा है । पता लगाने से मालूम हो रहा है कि इनमें ६० फ़ीसदी मूल रूप से देहाती हैं याने देहातों और क़स्बों से महत्वाकांक्षा लेकर बड़े शहर में आ गये हैं । शहर का हाल देख कर पहले तो ये चमत्कृत हुए, मगर फिर इन्हें गाँव की याद आने लगी । यादें आने लगीं कि गाँव में अम्मा बीमार थीं तो सारा गाँव हमारे आँगन में आ गया

कोई बोध नहीं होता। वे आधुनिकता को पहनी गयी पोशाक पहने हैं और उसी तरह व्यवहार करते हैं, जिस तरह देहात का लड़का शहर की सड़क पर के ठेके से तैयार सस्ती पतलून खरीद कर गांव लौटता है, तो उसे पहन कर अपने को 'बाबूसाब' कहलवाता घूमता है। कई को निराशा व्यर्थता और विफलता का अनुभव केवल इसलिए होने लगता है कि और किसी की कोई अच्छी रचना उसे छपी दिख गयी है या किसी का खेला बंद गया है या किसी का नाम किसी नेता में आ गया है या किसी के घटे आकार की तमचीर कहीं छप गयी है। उतना काफ़ी है इन आधुनिक-धर्मा लोगों को मौत की प्रेरणा देने के लिए।

बन्धु, देहाती भोला भी होता है। वह नहीं जानता कि उसे मंत्र पीया रहा है या मंत्र पाला। कोई उसमें कह देता है कि मंत्र जिन्दगी की पीप रहा है, तो वह पीमाने लगता है। कोई उसमें कह देता है कि जिन्दगी में बन्धू आ गये हैं, तो वह नाक पर झगल रस चोता है। किसी ने उसमें कह दिया कि किसी में कुल उतनी ही दिखयी है, जिसकी बजाय पीप में घूमती मिलती है और होठों में शराब पीती है—तो उसने वह भी मान लिया। उसने फिर न मुद्रा देने में देना, न धर में। उसमें तो निराशा है ही नहीं।

को उसका आधुनिक शृङ्गार समझ कर गौरव से ले रहे हैं। जीवन के व्यापक भ्रमानुपकरण के प्रयत्न से लड़ने के बदले देहाती आधुनिक उसे स्वीकार कर लेता है।

बन्धु, मुझे भी तरह-तरह के कष्ट हैं, घोर विपत्तियाँ आती हैं, भ्रमण का भी कुछ कम शिकार नहीं होता। पर मुझे न मौत की कामना होती, न जिन्दगी की बदवू आती, न आदमी बिलबिलाता कीड़ा लगता, न व्यर्थत्व का अनुभव होता। तब मुझे डर लगता है कि कहीं ऐसा तो नहीं कि मैं आधुनिक नहीं हूँ—क्योंकि मरण-कामना तो आधुनिक फ़ैशन ही है। अब तो ममता, सहानुभूति और करुणा मन में पैदा होती है, तब भी शंका होती है कि वहीं यह पिछड़ापन तो नहीं है। भ्रमानुपकरण भी तो आधुनिक फ़ैशन है।

आजकल इसी उत्कर्ष में दिन बीत रहे हैं, अपने। इसके सिवा बाँझों सब ठीक हैं।

आपका,

ह० शं० प०

पुनरुच : अभी याद आया, एक 'यौनधर्मा आधुनिकता' भी होती है। उसकी चर्चा भगले पत्र में कहेंगा। —परसाई

छब्बीस

प्रिय बन्धु,

मेरे एक परिचित हैं, जिन्हें पढ़ने का शौक है। वे मुझसे पुस्तकें ले आते हैं और किसी भी भाषा के अच्छे पाठक की तरह अक्सर लौटाना भूल जाते हैं। मैं अभी तक उन्हें इसी दृष्टि से देखता था कि यह उन आदमियों में से हैं, जिसे जो भी पुस्तक मिल जाए, रात को दो घंटे पढ़ कर सो जाता है। क्या पढ़ रहा है, और क्यों पढ़ रहा है, इसमें उसे मतलब नहीं। जैसे दर्शन की किताब पढ़ लेगा, वैसे ही शिकार को

कहानियाँ ।

पर घर कल उसने मुझे एक जोर का धक्का दिया । मैं उसे एक मशहूर लेखक का उपन्यास देने लगा, जो अपने को बहुत आधुनिक मनवा चुके हैं और यह भी प्रचार करवा चुके हैं कि मैं आधुनिक मनुष्य की आंतरिकता का चितेरा हूँ । पुस्तक देख कर उन सज्जन ने रख दी और कहा—एक बात मुझे साफ़-साफ़ बताइए कि आप मुझे क्या समझ कर टाल देते हैं । मैं इस सवाल के लिए तैयार नहीं था, इसलिए मैंने उन्हें ही कहने के लिए उकसाया । उन्होंने कहा—आप शायद यह समझते हैं कि मैं जो कुछ हाथ पड़ जाए, उसी को पढ़ लेता हूँ । लेकिन ऐसा मैं नहीं हूँ । अभी तक तो मैं अपठनीय किताबों को, आपकी भावना का खयाल करके चुपचाप ले जाता था और रख लेता था । पर अब यह बोझ मुझसे ढोया नहीं जाएगा । मैं आपसे साफ़ कहता हूँ कि मैं इस उपन्यास को हरगिज नहीं पढ़ूँगा ।

मन तो हुआ कि कह दूँ, फिर आप मेरी किताबों का ही बार-बार पाठ किया कीजिए । पर इतना वेशर्म अहंकार बताते नहीं बना । मैंने कहा—इसे क्यों नहीं पढ़ेंगे ? ये तो मशहूर लेखक हैं, बिल्कुल आधुनिक । ये आधुनिक प्रेम के ही उपन्यास-कहानियाँ लिखते हैं ।

उन्होंने कहा—फिर भी मैं इसे इसलिए नहीं पढ़ूँगा कि मेरा नाम कई सालों से मतदाता सूची में आ गया है । जब तक मैं भारत गणराज्य का मतदाता नहीं था, तब तक इनके उपन्यास-कहानी पढ़ लेता था ।

मैंने पूछा—क्या संविधान में ऐसा संशोधन हो गया है कि जो मतदाता हो जाए, वह इनकी कृतियाँ न पढ़े ?

उन्होंने कहा—नहीं, ऐसा संशोधन तो नहीं हुआ है । पर क्या आप किसी कालेज के तरुण को 'कल्याण' पढ़ने के लिए मजबूर कर सकते हैं तो फिर किसी वालिग को इनकी कृतियाँ पढ़ने के लिए क्यों मजबूर करते हैं ? अगर आप जाँच करें तो पाएँगे कि मतदाताओं में सिर्फ़ ५ प्रतिशत पाठक इनके हैं । बड़ा सुभीता हो अगर आप लोग अपनी कृतियों के मुख-

सैनिकों से अल्जीरिया में न पड़ने का अनुरोध करता है। वह तब भी ज़रा चौंकता है जब वरट्रेट रसेल अमरीकी हस्तक्षेप की निन्दा करता है। पहले तो वह इन्हें भी तुच्छ समझता है। लेखक और बुद्धिजीवी हो कर इन मामलों में क्यों पड़ते हैं ? फिर वह यह सोच कर अभिभूत होता है कि ये लोग पश्चिम के हैं; पश्चिम के हैं; तो धन्य हैं भारतीय लेखक और बुद्धिजीवी अरब देशों और अफ्रीकी देशों के लेखकों से भी पीछे सोचता है और पश्चिमी बुद्धिजीवी के सामने बड़ी हीनता का अनुभव करता है। मुझे याद है, पिछले नवम्बर में विश्वशान्ति सम्मेलन में लेखकों की बैठक में मुकराज आनन्द जब गद्गद् हो कर आत्म, उत्प्रेक्षणमय भाषण दे रहे थे तब बार-बार कहते थे—'माइ फ्रेंड सार्त्र, माई फ्रेंड शोलोखोव—' बार बार इन्हें 'मित्र' कहने से हीनता की भावना बड़े दयनीय ढंग से प्रकट हो रही थी। तब संयुक्त अरब गणराज्य के एक तरुण प्रतिनिधि से डॉक्टर प्रतिनिधि ने डॉक्टर साहव को फटकारा। उसने साफ़ कहा कि जब हम कहते हैं कि सार्त्र हमारे सम्मेलन में आएँगे, तब हम हीनता की भावना से ग्रस्त होते हैं। सार्त्र नहीं आएँगे, तो क्या होगा ? एशिया और अफ्रीका के लेखकों और बुद्धिजीवियों को इस हीनता का त्याग करना चाहिए और स्वतंत्र तथा आत्मसम्मान पूर्ण ढंग से सोचना चाहिए। मैंने देखा, डॉक्टर साहव परेशान थे। बाद में यह उनकी परेशानी मोहन राकेश ने और बढ़ा दी थी।

राजनैति के वारे में लेखक तभी सोचता है जब मुख्यमंत्री, शिक्षा-मंत्री या प्रधानमंत्री बदलता है या पुरस्कारों का या विश्वविद्यालयों के विभागाध्यक्षों और उपकुलपतियों की नियुक्ति का मौसम आता है। सुनामघन्य लेखक तब एकदम जागरूक हो जाते हैं, देश की समस्याएँ उन्हें पीड़ित करने लगती हैं और वे लेखक लिख कर बता देते हैं कि अगक मंत्री देश को स्वर्ग बना देंगे। पत्र-पत्रिकाओं में पत्रकारों द्वारा नहीं, लेखकों के द्वारा लिखे वे लेख देखे होंगे, जिनमें मंत्री जी की प्रतिभा, सरलता, त्याग, सज्जनता और दृढ़ता के गीत होते हैं। ये सचित्र होते हैं

घोर चिन्तों के शीर्षक होते हैं—'मंत्री जो अध्ययन कक्ष में, मंत्री बन्धे की धूमते हुए, मंत्री जो पूजा करते हुए घोर मंत्री जो शीव हुए।' ऐसा लेख निकलते ही समझा जा सकता है कि लेखक की दरवाजे पर किम पद या साम को भीत माँगने लगी है।

अध्यापकों की भी अपनी घातग दुनिया है। हिन्दी, संस्कृत, और इतिहास विभागों के अध्यापक तो घसवार भी नहीं पड़ते, उनके विषय में हम संसार से सम्बन्धित ही नहीं हैं। वे अपनी दुनिया नहीं रहने। दूसरों की दुनिया भी विश्वविद्यालय के भीतर ही होती है विश्वविद्यालय की कार्य-कारिणी समिति सुरक्षा परिषद् के बराबर होती है। मैं पिछले कई सालों से देख रहा हूँ कि २-३ अध्यापक रोज, जिन बाग़ों महोदयों, अपने पूरे खानो समय में सिर्फ विश्वविद्यालय की राजनीति की बात करते हैं। इस दुनिया की समस्याएँ हैं—पैसे जीतने की श्रान्त करना, तरक़्तो पाना, पुस्तकें पाठ्यक्रम में लगवाना, समितियों में सदस्य होना। कभी-कभी अध्यापक की दुनिया फैलती है और दूसरे विश्व-विद्यालय से मिल जाती है। सब अध्यापक वहाँ से पर्चा जीतने की ले आता है। उने कुल उतने में दिलचस्पी है और उतना ही वह समझता चाहता है, किता विश्वविद्यालय के महाले में है। उसमें यह उम्मीद करना नाजायज़ है कि वह उस दुनिया के बाहर भी देखे और उसमें दिलचस्पी ले। पिछले महीने मैंने राजनीति के एक अध्यापक से कहा—चलिए, नगर-परिषद् में वियतनाम की समस्या पर चर्चा है। आप भी उसमें भाग लीजिए। उसने हँस कर कहा—इस वक़्त ज्वलंत समस्या वियतनाम की नहीं है, कापियाँ जीतने की है। मुझे याद है, जब आचार्य कृपलानी संसद का चुनाव जीते थे, तब मुबह ही मेरी मुलाकात राजनीति के एक अध्यापक से हो गयी। मैंने कहा—कृपलानी जीत गये। उन्होंने कुल इतना कहा—हाँ, अब संसद में बड़ा मज़ा आएगा। कृपलानी की राजनीति से सहायत होने की बात नहीं है। बात यह है कि अध्यापक जो को इसमें सिर्फ संसद का 'मनोरंजन' समझ में आया।

अठाईस

प्रिय बन्धु,

जुलाई की 'कम्पना' में ६७ खेलकों के नाम से 'भाषा यत्न' छपा है और ८ खेलकों के नाम से एक 'कार्यक्रम' । दोनों यत्न्य मातृ-भाषाओं के प्रयोग और संश्लेष के निष्कासन के सम्बन्ध में हैं । कार्यक्रम पेश करने

कार्यक्रम के मुद्दे ५ से बरी कर देना चाहिए। (मुद्दा ५ कहता है कि अपने बच्चों को ऐसे स्कूलों में न भेजें, जहाँ शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी हो।) ऐसे लोगों को मातृभाषा आन्दोलन की तरफ से यह काम देना चाहिए कि वे मन पर और सहायार में छाती पीट-पीट कर मातृभाषा के लिए इस तरह रोएँ, जैसे माता जी का दंतकाल हो गया हो। इससे बड़ा असर पड़ेगा।

सवाल मातृभाषा के प्रति प्रेम, उसके लिए संघर्ष और थोड़े त्याग का नहीं है। सवाल यह है कि भारतीय होने की जो शर्म है, उसे किस तरह धोया जाए। दूसरा सवाल है, बच्चों का भविष्य कैसे बनाया जाए। जिस देश में मोर्चे पर फ़ीज के लिए जाने वाले चावल को कालाबाजार में बेच कर बच्चों का भविष्य बनाया जाता है, वहाँ भारतीय भाषा के लेखक बच्चे को अंग्रेज़ बना कर उसका भविष्य क्यों न सुवारें! उसे हिन्दी पढ़ा कर क्या पटवारी बनाना है? जो हिन्दी भक्त और हिन्दी लेखक गरीब नहीं हैं उन्हें हरगिज़ मातृभाषा को नहीं अपनाना चाहिए। जिन्हें बच्चों को इंजीनियर, डॉक्टर बनाना है, विदेश भेजना है, आई० ए० एस० में और विदेश सेवा में भेजना है, वे आपको 'हिन्दी फिन्दी' के चक्कर में क्यों पड़ें?

'सार्वजनिक कार्य' के मुद्दे ३ की वंदिश भी मेरी दृष्टि में ग़लत है। निमन्त्रण-पत्र आखिर अंग्रेजी में क्यों छपें? मुझे शादियों के इसी मौसम में एक निमन्त्रण-पत्र मिला—'मिस्टर एंड मिसेज़ फुन्दीलाल रिक्वेस्ट दी प्लेज़र ऑफ़ दी कम्पनी ऑफ़ मिस्टर एंड मिसेज़....' एट दी वेडिंग सेरेमनी ऑफ़ देअर सन छिद्दीलाल....' फुन्दीलाल के पहले दो लड़कों की शादी के निमन्त्रण-पत्र हिन्दी में थे, जिन पर ऊपर गणेश का चित्र था। इस बीच फुन्दीलाल की मोटर सुधारने की दूकान कारखाना बन गयी है और कई पीढ़ियों में घर में पहला व्यक्ति छिद्दीलाल बी० ए० हो गया है। अगर निमन्त्रण-पत्र अंग्रेजी में न हो, तो कैसे मालूम हो कि फुन्दीलाल जी की दूकान बड़ी हो गयी है और छिद्दीलाल बी० ए० हो

गये हैं। हिन्दी में निम्नत्रय-पत्र छपने पर लोग कहने लगेंगे कि धरे, वही फुन्दीलाल है ! बन्धु, अंग्रेजी की बात का स्तर ही अगल होता है मैंने तो गोरेलाल शर्मा को अंग्रेजी में विलाप करते भी देखा है और बहुत अच्छा लगा है। चाचा की मृत्यु पर वे रो कर मुझसे बोले थे 'बिरदार, हो लब्ड भी भेरी मध !' यह मजा मातृभाषा में राने नहीं है।

एक और बात ये मित्र भूलते हैं। अंग्रेजी में भद्दे नाम भी लगते हैं। कोन जान सकता है कि सी० एल० वर्मा वास्तव में छकोटी लाल है ? खुन्नेलाल शान के साथ के० एल० हो जाते हैं। इस को वे क्या समझें जो श्रीकांत और मनोहर श्याम हैं ? यह तो वही सकता है, जिसे फूनचन्द नाम मिला है और जो पी० सी० लिखता है।

बन्धु, अंग्रेजी के नाश के ये सब तरीके गलत हैं। मेरा विचार है अंग्रेजी को हम इतना भ्रष्ट करके और उसे इतना विगाड दें, कि वह शर्म के मारे मुंह छिपा कर यहाँ से भाग जाए। केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में राममुनगासिंह और पाटिल जैसी अंग्रेजी बोलते हैं, वैसी अगर १००० नेता बोलने लगे, तो बेचारी अंग्रेजी यहाँ एक मिनिट न टिके। घोर हृदय विदारक अंग्रेजी बोलते हैं, ये लोग ! 'इज बाज सुड बुड'—बड़े आत्मविश्वास से बोलते हैं। इनसे पूछो तो ये कहेंगे—'जरा इंगलिस वीक है !' शास्त्री जी भी अपने ढंग से मातृभाषा आन्दोलन में योग देते हैं, जब वे बार-बार 'वाई एन्ड लार्ज' के बिना भागे नहीं बढ़ते और शांति-सम्मेलन में गम्भीरता से कह देते हैं—'एन्ड लेट द वर्ल्ड रेस्ट इन पीस !'

ये कुछ सुभाव फिलहाल मैंने दिये हैं। अगर इन पर अमल करने की आप लोग तैयार हों, तो भागे और भी उपयोगी बातें बताऊँ।

आपकी सब ठीक है।

आपका

ड० अ० प०

उन्तीस

प्रिय बन्धु,

पिछले अंक में श्री रमेश उपाध्याय ने २-४ अंक निकलने वाली छोटी पत्रिकाओं के संबंध में कुछ बातें उठायी हैं। वे परेशान मालूम होते हैं कि इतनी अल्पजीवी पत्रिकाएँ क्यों निकलती हैं। उन्होंने शायद कभी कोई पत्रिका नहीं निकाली, इसलिए वे पत्रिका निकालने के रहस्य से और उसके सुख से भी परिचित नहीं हैं। मैंने निकाली है, मैं जानता हूँ।

हिन्दी भाषा में पत्रिकाएँ यों कम ही निकलती हैं। अधिकांश पत्रिकाएँ ऊबे हुए रेल्वे मुसाफ़िर के लिए निकाली जाती हैं। उन्हें देखते ही पहिचाना जा सकता है। भद्दी स्त्री, भद्दे कपड़े, भद्दे ढंग से पहिने (या खिसकाये ?) इन पत्रिकाओं के कवर पर होती है और पीछे पूरे पृष्ठ पर विज्ञापन होता है, जिसमें कोई परोपकारिणी देवी 'वहिनो' की बीमारी दूर करने के लिए आतुर होती है या कोई संन्यासी नष्ट जीवन नौजवान का जीवन सुधारने के लिए तैयार रहते हैं। कुछ कहानी पत्रिकाएँ भी ऐसा रंग-रूप ले चुकी हैं और इनमें हर कहानी का पल्ला खिसका रहता है। यह तो होना ही था, क्योंकि पश्चिम से आने वाली दर्शन शास्त्र की पुस्तक के कवर पर भी स्कर्ट खिसकाये स्त्री का चित्र विक्री के खयाल से चिपका रहता है। कुछ पत्रिकाएँ जो कथा मासिक हैं, अच्छी निकलती हैं। फिर २-३ साहित्यिक पत्रिकाएँ हैं, जो लेखकों, साहित्य के विद्यार्थियों और अध्यापकों के विशेष काम की हैं। यहाँ आप उम्मीद कर रहे होंगे कि लिखूंगा—और इनमें 'कल्पना' का विशिष्ट स्थान है। (अच्छा, इतनी मुँह देखी मैंने की।)

लेकिन इनके अलावा भी जो पत्रिकाएँ निकलती, बंद होती रहती हैं, उनके विषय में कुछ लोग चिंतित हैं। ये पत्रिकाएँ क्यों निकलती हैं? कुछ लोग शोक के लिए पत्रिका निकाल देते हैं। जैसे घर के अहाते में

में प्रतिष्ठित होना कष्टकर है। पत्रिका निकाल कर ऐसा आसानी से होता है ! कविता, कहानी, उपन्यास लिखने से कम मेहनत पत्रिका निकालने में पड़ती है और प्रतिभा तो कम लगती ही है। आज सड़कों का उपयोग छूट गया है, सब पगडंडियाँ खोजते हैं। साहित्यिक सफलता की जो इमारत है, उसमें 'लिफ्ट' भी लग गये हैं। ऊँची मंजिल पर पहुँचने के लिए सीढ़ियों से चढ़ कर कोई पाँव क्यों दुखाए ? यशःप्रार्थी 'लिफ्ट' में चढ़ता है और हर लेखक को 'लिफ्ट' का चपरासी समझता है जो बटन दबा कर उन्हें ऊपरी मंजिल में छोड़ आए। जो लेखक 'लिफ्ट' का बटन नहीं दबाता, उसे यशःप्रार्थी गाली देने लगते हैं। ऐसी कुछ पत्रिकाएँ 'लिफ्ट' होती हैं। मगर मैंने कहा न, हिन्दी का लेखक बड़ा भोला होता है। वह समझता है कि पत्रिका निकालने का काम करने वाला बिना लिखे लेखक मान लिया जाएगा। उसे यह समझ में नहीं आता कि दबा बेचने वाला वस्त्र-विक्रेता-संघ का मन्त्री नहीं बन सकता। यह बनने के लिए उसे कपड़े बेचना ही पड़ेगा।

श्री उपाध्याय को इन पत्रिकाओं से जरूरत से ज्यादा भय लग गया है और उन्होंने इसी से संबद्ध करके लेखकीय स्वतंत्रता और शासकीय या राजनीतिक हस्तक्षेप का सवाल उठा दिया है। लेखक की स्वतंत्रता, शासन से सहयोग या असहयोग, दल और लेखक आदि को लेकर पिछले १० सालों में बहुत नट-कौतुक देख चुका हूँ। सरकार से विलकुल असहयोग—यह नारा बहुत साल पहले कुछ लेखकों ने बड़े आत्म-पावित्र्य की अदा से लगाया था। किस सरकार से असहयोग ? कांग्रेस के अवाड़ी अधिवेशन के बाद वाली सरकार से ही असहयोग क्यों ? क्या इसीलिए कि उसके बाद सरकार ने 'समाजवाद' का नारा अपना लिया, योजनाओं में सार्वजनिक क्षेत्र को एक हिस्सा दे दिया और उद्योगों के राष्ट्रीयकरण की बात चल पड़ी ? गो 'समाजवाद' का नाम ले कर भी काम क्या हुआ है; यह सब जानते हैं। कितना गोलमाल उस नारे से पैदा किया, यह भी देख रहे हैं। मगर, अगर वह सरकार यह नारा न लगाती,

पूँजीवाद का अपने प्रकृत रूप में विकास होने देती, तो लेखकों सरकार से अपनी रक्षा की चिंता क्या इतनी ही सताती ? तब भी सांस्कृतिक स्वतंत्रता और नैतिक पुनर्स्थापन के नारे इतने ही जोर होते ? क्या नैतिक पतन इसीलिए नहीं हो गया है और संस्कृति संकट में नहीं पड़ गयी है कि साधारण जन ने अपने अधिकार शुरू कर दिया है ?

इस बात में विवाद की गुंजाइश नहीं रह गयी कि लेखन को नार या राजनीतिक दल नियोजित नहीं कर सकते और न लेखक आदेश दे कर लिखवा सकते । मगर लेखक गल्लेबाजार का सांड भी नहीं है । कहीं कोई दायित्व-बोध तो उसे करना हो पड़ेगा ।

लेखक जिस स्वतंत्रता की बात करता है, उसका रूप कुछ है—जो तनछ्वाह नहीं देता, उसे गाली देना और जो तनछ्वाह देता उसे गाली न देना या समर्पण देना । अगर मासिक वेतन भारत से नहीं मिलता, तो लेखक भारत सरकार को गाली देगा । मगर सेठ में वेतन मिलता है, उसे और उसके वर्ग को गाली नहीं देगा । लेखकीय स्वतंत्रता है । मगर यह स्वतंत्रता है कि चतुरता है ? ऐसा लेखक ही भोड़ को भी तुच्छ समझता है और उससे दूर रहता है । यह है कि जिससे उसे तनछ्वाह मिलती है, उसे सबसे बड़ा खतरा भोड़ से होता है । ऐसे ही लेखक यह ध्वारा विश्वास भी पालते हैं जो भी व्यवस्था हो, वह सिर्फ लेखक के फायदे को ध्यान में लेने । बाकी जन-समाज का चाहे जो हो । यही वह भी सोचता है, उसे तनछ्वाह देता है । स्वतंत्रता के सम्बन्ध में वेतन देने वाले वर्ग वेतन लेने वाले लेखक का जो यह मत-साम्य है, इससे स्वतंत्रता की पोल खुल जाती है ।

हमसे पहले के लेखक कविता-कहानी भी लिखते थे और संश्रम में जेल भी जाते थे । मगर हम यह समझते हैं कि सिर्फ कविता-कहानी से ही हम दुनिया को बदल देंगे । खमाने ने कुछ

गमना खाया है कि जो जर्म की बात है, यह जर्म की बात ही मयी है ।

मनिकामे निजा से श्रीर खातोचना-यथातोचना हाने में कोई घम-
जकना मही पंचनी । यह वन होना है, जब वर्त-उत्पन्न राम-जि श्रीर ईर्ष्या
को जेने मिदानी का भासा पदनाया जना है, निगेभी पर हम टाट से
प्रहार निजा जाना है, जेने हम किमी जेने खादमी के लिए संघर्ष कर रहे
हैं । संकट मार्गस्थ के मही मुन्नाहन मही होने का है । दूसरी समस्या
मेकक जो यह भीष कराने की है कि यह किसी समान में संवद एव
आदमी भी है ।

उत्पत्त्याय भी ने निजा है कि यदि ऐसा ही बना, तो सरकार को
लेगकों पर संकुश लगाना पड़ेगा, या साम्प्रदाय का दौर चला, तो यह
संकुश लगाएगा । मेरा विचार है में दोनों ऐसा नहीं करेंगे और न उन्हें
ऐसा करना चाहिए । कई तरह की सरकारों ने ऐसा करके देग लिया
और अपने को गलत पाया । न्य श्रीर पूर्वी यूरोप के देशों को साम्प्रदायी
सरकारों ने भी लेगकों को पहले बांधा और फिर माना कि यह गलत
हुआ । भारत में जो दल के हिसाब से लेगन को नियोजित करने का
प्रयत्न करते रहे, वे भी असफल हुए । फिर प्रयत्न करेंगे तो फिर
असफल होंगे । मगर, जैसा मैंने पहले कहा है, लेखक किसी
देवता के नाम पर छोड़ा गया गल्लावाजार का सांड भी नहीं
है, जो अपनी नस्ल के मद में मस्त घूमे और लोगों को सींग मारे ।
कुछ लेखकों को अपनी नस्ल का मद सीमा से ज्यादा चढ़ा हुआ है ।

इस बार लम्बी चिट्ठी लिख गया, और देर से भेज भी रहा हूँ ।
उम्मीद है, काम आ जाएगी ।

आपका,
ह० शं० प०

दोनों काम में भी करना चाहता हूँ। जानना चाहता हूँ कि तलवार किस पर उठाऊँ। सीमा पर सीमित युद्ध होने पर भीतर जनता के सशस्त्र प्रतिरोध की गुंजाइश होती नहीं है। अब प्रयाग, जबलपुर या हैदराबाद का लेगक तलवार निकाल भी ले, तो किस पर चलाएँ? सीमा पर जो हैं, उनकी तलवारों निकालने के लिए अपने कहने की राह तो देख नहीं रही होगी। मैं नफ़रत भी करना चाहता हूँ। मैं मैं युद्धमात्र से नफ़रत करता हूँ—मगर यह मुनकर 'शिशुभक्त' तलवार लेने आ जाएँगे कि तुम हतोत्साह करते हो। मैं पाकिस्तान के तानाशाहों से और चीन के युद्धोन्मादियों से भी नफ़रत करता हूँ—पर उन पर मेरी नफ़रत का क्या असर पड़ेगा! तब किस पर तलवार निकालूँ और किससे नफ़रत कहूँ? एक जमात है, जो मुझे बताती है कि दूर मत जाओ; यहीं तलवार चलाओ और यहीं नफ़रत करो। ये रोज़ शाम को खुद भी लाठी और 'चुरिका' चलाना और नफ़रत करना सीखते हैं। यह बाहरी शत्रु से लड़ने की तैयारी नहीं है, क्योंकि बाहरी शत्रु से तो तोप और टैंक से लड़ा जाएगा। इनको लड़ाई तो भीतरी ही होगी। ये शायद इसी देश के लोगों से इस देश की रक्षा करना चाहते हैं। सोचता हूँ, क्या इसी जमात की भाषा जाने-अनजाने हमारे इन वरिष्ठ लेखकों के मुख से नहीं निकल रही है? और तब सवाल उठता है कि पाकिस्तान के शासकों से यह बात किस तरह भिन्न है? वे भी लोगों को नफ़रत करना और तलवार भाँजना ही सिखा रहे हैं?

पर वन्धु, प्रश्न परेशानी है। वे परम सुखी हैं, जिन्हें सवाल नहीं घेरते। उन्होंने प्राथमिक शाला की अपनी गणित की पुस्तक के सिर्फ़ उत्तर के पन्ने फाड़ कर रख लिये हैं। सवाल जाने बिना भी, जवाब उनके पास तैयार रहते हैं।

ऐसा ही सीधा जवाब यह है कि भेड़िये से लड़ना है, तो भेड़िया । बहुत लोग इस देश में यही समझा रहे हैं। वे नहीं मानते कि भेड़िये से आदमी यों लड़ सकता है कि वह बन्दूक दाग देता है। इससे

इकत्तीस

बन्धु,

पश्चिम में लड़ाई लगने होने के बाद में तबियत में कुछ । १.
पा गयी थी । कोई उत्तेजना नहीं रही घोर रक्त-या समने लगा था ।
देश के लोग मुझ जैसे छोटे सेमक का भी बड़ा खयाल रखते हैं । ३.
बनाए (नहीं बाराणसी, बरना सम्पूर्ण नद जो नाराज हो जाएंगे)
पंचदश देव दिया । मोक्ष, फिर जिनकी लादो हो गयी घोर
नया कि मुक्तानों हमचन बाने प्राणवान देश में रह रहा है । सबर नि
दि बनारस की गुरुको पर विश्वविद्यालय के हजारी सड़के शरा
ने कर, हर-हर महादेव का नारा लगने हुए, धर्म की रक्षा के नि
निश्चय पड़े । मैं उस दृश्य को देखना चाहता था । देखना चाहता था
धर्म के रक्षक 'देन पारस' पहने थे कि नहीं, उनकी शिन्नाएँ थी या
वे जनेऊ पहने थे या नहीं । बन्धु, बनारस के समाचार पढ़ता, तो
जगता जैसे 'बया खरिगागर' की कोई कथा पढ़ रहा है जिसमें
बहुता है—'मति प्राचीन काल में, शंकर के त्रिशूल पर स्थित
नगरी में एक विश्वविद्यालय था । उसकी स्थापना महामना प०
मोहन मासवीय ने की थी ।—'

बन्धु, धर्म का तत्व बड़ा जटिल है । उसका स्वप्न भी
रहता है । जिस विश्वविद्यालय के नाम से 'हिन्दू' शब्द निकलने से
नष्ट होने का डर है, उसका शिलान्यास विधर्मी; 'म्लेच्छ' भ्रंशेज ने
था । जिस भलीगढ़ विश्वविद्यालय के संविधान में परिवर्तन करने
पर इस्लाम खतरे में पड़ जाता है, वह भी 'काफिर' भ्रंशेजों के
पाता था । उस वक़्त हिन्दू धर्म और इस्लाम दोनों के रक्षक भ्रंशेजों
कृपा-बटाव पा लेने को उत्सुक रहते थे । भ्रंशेज साहब पंडित, घोर
दोनों से ज्यादा पूज्य होता था । जो आज हिन्दू धर्म की रक्षा के
लगाते हैं और जो इस्लाम की रक्षा के लिए सम्मेलन करते, हैं वे
भ्रंशेजों की गुलामी की कायम रखने में सहयोगी थे । सारे स्वतंत्रता

लनों को दवाने में धर्मिमा लोग अंग्रेजों के सहायक थे। यानी, तब धर्म की रक्षा गुलाम बने रहने में होती थी। स्वतंत्रता के बाद अंग्रेज मालिक चले गये, तो बेचारा धर्म अरक्षित रह गया। तो अब धर्म की रक्षा गुंडों ने अपने हाथों में ले ली है। अलीगढ़ में और बनारस में धर्म की रक्षा इन्होंने की। हिन्दू गुंडा इस वक़्त हिन्दू धर्म का रक्षक है और मुसलमान गुंडा इस्लाम का। 'धर्म' क्या है? तो धर्मराज ने उत्तर दिया—'धर्म वह है जिसकी रक्षा या तो विदेशी साम्राज्यवादी करे, या गुंडा।'

बन्धु, जो हुआ, उसने यही सिखाया है कि नाम बदलने से कुछ नहीं होता! बोमारी पेट में भीतर है। ऊपर मलहम चुपड़ने से दूर नहीं होती। लेकिन गमले में खेती करवा के खाद्य समस्या हल करने वाले नेताओं का खयाल रहा है कि नाम से ही सब कुछ होता है। कुछ साल पहले नेताओं ने सोचा था कि प्रजातांत्रिक और समाजवादी भावना जाति सूचक उपनामों को निकाल देने से ही जड़ जमा लेगी। तो घोषणा करके श्रीमन्नारायण जी अग्रवाल सिर्फ़ श्रीमन्नारायण रह गये। नाम मात्र से काम चल गया। फिर नेताओं ने सोचा कि जो हम कर रहे हैं उसे एक अच्छा नाम दे दें। नाम से ही देश के लोग संतुष्ट हो जाते हैं। तो उसे 'समाजवाद' नाम दे दिया गया। बनारस का नाम बदलने पर भी भ्रंश हो चुकी है। सम्पूर्णनिन्द जी ने पुराना से पुराना नाम बताया—वाराणसी! काशी नहीं। अब मुश्किल यह है कि इस देश का साधारण आदमी 'काशी विश्वविद्यालय' कह लेता था, पर 'वाराणसी विश्वनाथ' नहीं कह पाता। इससे विश्वनाथ की महिमा घटी, इसकी परवाह 'जम्बूद्वीप' वालों ने नहीं की।

बन्धु, मुझे लगता है सरकार धर्म-निरपेक्षता को जाँच कर रही थी। पाकिस्तान से लड़ाई के दिनों में एकता के नारों से सरकार समझी कि बस, हो गया काम। ऊपर के नेताओं में बात हुई होगी—क्यों गुरु, देश में कैसी एकता स्थापित हो गयी! न कोई हिन्दू रहा, न कोई मुसलमान

सब सिर्फ भारतीय ही गये। दूसरे ने कहा होगा—उस्ताद, जरा हो जाए ! विश्वविद्यालयों में से साम्प्रदायिक शब्द निकाल दिया जाए बनारस में परीक्षा शुरू हो गयी। सरकार पहले परीक्षा ले रही थी, व में उम्मी को परीक्षा देनी पड़ी। मन्त्रियो, संसद सदस्य और नेताओं दिनों पर के धर्म-निरपेक्षता को पट्टी उतारी तो वहाँ 'हर-हर' लिखा मिला। भ्रष्ट म्हादोलनों को दवाने के लिए बहादुरी से गोली बाने वालों के होश उड़ गये जब अपने दल के लोग ही 'हर-हर' में शामिल हो गये। कुछ लोगों को चुनाव जीतने की आदत पड़ गयी है उन्हें डर लगा रहता है कि कहीं मतदाता नाराज न हो जाएँ। के संसद सदस्य ने देखा कि क्षेत्र में साम्प्रदायिकता फैल गयी है, तो कहा कि मेरे मतदाताओं, अगर तुम्हें साम्प्रदायिकता पसंद है, तो लो भी साम्प्रदायिक हुआ जाता है। ऐसे लोग अगर देखें कि क्षेत्र में का प्रभाव है, वे डाकुओं के पक्ष में होकर यह बता सकते हैं कि मैं कम डाकू नहीं हूँ। चुनाव जीतने की आदत वाले, मत पाने के साम्प्रदायिक बया डाकू, चोर और जेबकट भी बन सकते हैं। इस परीक्षा हो गयी और सरकार और संसद बुरी तरह फेल हो गये। सामने यह खबर है जिसमें चेहरे बने हैं और नीचे नारा है—'सब एक है।' इसे इस तरह लिखना चाहिए—'हम एक दूसरे से न करते हैं। एक दूसरे से डरते हैं। मगर हम एक हैं।'।

बन्धु, आजव स्थिति है इन विश्वविद्यालयों की। एक बन्धु चला करता है। नेता लोग कहते हैं—विद्यार्थियों को राजनीति से रहना चाहिए। और फिर सब उन्हें अपनी राजनीति के लिए काम खाते हैं। स्वस्थ राजनीति को विश्वविद्यालय में निषिद्ध करके गुहर्षों की गुट-राजनीति को भर दिया गया है। इस गुह के चले गुह को उखाड़ते हैं। और इस खानी जगह में 'सांस्कृतिक' लोग घुम है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ वाले पहुँचे और कहा—राजनीति मत पाने दो। पर हम तो शुद्ध सांस्कृतिक संगठन हैं। हमें शाखा

दो । लग गयी । अगर जगाते-उसलामी वाले पहुँचे और कहा—सियासत निहायत गंदी चीज है । मगर हम तो उसलामी तहजीब वाले हैं । हमें आने दो । नतीजा यह है कि जो गुल लाल किले के मैदान में घोषणा करते हैं कि प्रजातंत्र, धर्म-निरपेक्षता और समाजवाद इस देश में नहीं चल सकते, उनके चले लड़कों को शंख-घड़ियाल ले कर हाँकने लगे हैं । जो समझदारों की बात करते हैं, उनको समा में वे पत्थर फेंकते हैं और छुरी चलाते हैं । देखिए, विद्यार्थी राजनीति से कैसे साफ़ बच गये ! वे ऐसे भोले हो गये कि विज्ञान, टेकनालाजी, राजनीति, दर्शन तो पढ़ते हैं, मगर शंख बजा कर कोई भी उन्हें सड़कों पर निकाल सकता है । जिस सप्ताह ये लोग बनारस में फ्रांसिस्टों के हाथों में धर्म के नारे पर खेल रहे थे, उसी सप्ताह अमरीकी लड़के-लड़कियाँ अपने दूतावास के सामने अपनी सरकार की वियतनाम नीति के खिलाफ़ प्रदर्शन कर रहे थे । हमारे लड़के राजनीति से बिलकुल दूर हैं; इसलिए धर्म की लड़ाई लड़ते हैं । अगर ये १० हजार जो बनारस में 'हिन्दू' शब्द के लिए मर मिटने को तैयार हो गये थे, अगर काला बाज़ार और मुनाफ़ाखोरी के खिलाफ़ कफ़न बाँध लेते, तो सारे देश की खाद्य-व्यवस्था सुधर जाती । लेकिन यह राजनीति हो जाती, जिसे हमारे 'पवित्र' सत्ताधारों पसंद नहीं करते । और धर्म के साथ मुनाफ़ाखोरी का हमेशा सह-अस्तित्व रहा है ।

बन्धु, सुबह पाकिस्तान को और शाम को चीन को कुचल देने की घोषणा करने वाली सरकार को पसीना आ गया, जब स्वदेशी फ्रांसिस्टों से सामना हुआ । मैंने देखा है, बहुत से आचार्य; लेखक और कवि भी 'धर्म और संस्कृति' शब्द सुनते ही विह्वल हो जाते हैं और कहने लगते हैं—इसमें क्या बुरा है ? इन भोलों को कौन समझाए कि यह धर्म-संस्कृति नहीं है, गंदी खतरनाक राजनीति है । बाबू गोविन्ददास और डॉक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल आदि समझा रहे हैं कि यह शब्द कितना व्यापक समन्वयकारी और सांस्कृतिक परम्परा का वाहक है । ये जाने किस जमाने की बात कर रहे हैं । क्यों समझने से इनकार करते हैं कि आज शब्द का

नाराज हैं और अपने कपड़ों से भी । अपने देश में भी नाराज युवक हैं । ये किससे नाराज हैं ? मेरे एक मित्र का लड़का हाल ही में नाराज हुआ है । उसने पतली मोरी का पैट सिलवा लिया है । एक दूसरा युवक अभी तक दाढ़ी बनाता था । कुछ महीने पहले वह एकाएक नाराज हो उठा और उसने दाढ़ी बढ़ा ली । सैकड़ों युवक मेरे सामने ही नाराज होते जाते हैं और चुस्त पैट पहन कर दाढ़ी रखते जाते हैं, पर यह स्पष्ट नहीं होता कि ये नाराज किससे हैं ।

बन्धु, साहित्य के क्रुद्ध लोग और रहस्यमय हैं । एक तो जितना क्रोध उन्हें होना चाहिए, उतना है नहीं । अपने देश में क्रुद्ध युवक की परम्परा भी नहीं है । दुर्वासा से ले कर राजगोपालाचारी तक क्रुद्ध वृद्धों की परम्परा है । इस देश के युवक को नया-नया क्रोध आया है । जमने में देर लगेगी । मैं देख रहा हूँ कि जो अपने को बहुत क्रोधी बताते हैं, वे रचनाओं में अपने मरने की बात करते हैं । यह कैसा क्रोध है ? क्रोध आता है, तो जिस पर आया है, उसे मारा जाता है । यह कैसा क्रोध है, जिसमें अपने को ही मारा जाए ? शायद यह पता नहीं है कि क्रोध किस पर है । ऐसे एक क्रोधी कवि से मैंने पूछा कि यार यह कैसा क्रोध है । उसने कहा—तुम्हारी समझ में नहीं आएगा । यह आध्यात्मिक क्रोध है । सचमुच, मुझे आध्यात्मिक क्रोध समझ में नहीं आता । आध्यात्मिक क्रोध शायद विश्वामित्र का था जिन्होंने त्रिशंकु को बीच में लटका दिया था । कई बार ऐसा होता है कि हम तय करते हैं कि आगामी महीने भर हम क्रोध करेंगे । पर यह समझ में नहीं आता कि किस पर क्रोध करें । या, अगर क्रोध का पात्र पहचान भी लेते हैं, तो उस पर क्रोध करने के परिणाम भुगतने को तैयार नहीं रहते । पर क्रोध करने का हमने तय कर लिया है । तब 'हम किसी बेचारे' की तलाश करते हैं । इस तलाश में यह तथ्य हाथ लगता है कि सबसे बेचारे तो हम ही हैं । तब हम अपने कपड़े फाड़ लेते हैं बाल नोंच लेते हैं और नाखून से सीना फाड़ लेते हैं । अपने को जितना बुरा कहा जा सकता है, कह लेते हैं । यह क्रोध अलग ढंग का

हैं घोर बटुन से सोन को घनने को 'बूझ' बढ़ते हैं, मुझे इसी प्रकार मरते हैं। यस्यस्य घोर दिग्गहीन कोष घनने ही बपड़े परवाता है।
 सर जैसा देने बहा, हम घीरे-घीरे कोष करना सोन जाएंगे।
 ने घनी-घनी तो हमें कोष करने की इजाजत दी है।

बाकी सब ठीक है।

भादवा,
 १० शं० ५०

तेत्तीस

दिन बन्धु,

'वस्त्वना' का दो महीनों का संयुक्तांक यह भी देर से मिसा।
 विरु पत्रिका का संयुक्तांक उसके बारे में डर पैदा करता है। भाशा
 सब बुराण है। 'वसुधा' के हमने काफ़ी संयुक्तांक निभासे ये। एक
 तो हीन महीने का एक निवास था। फिर शर्म माने सगी, बाहकों
 भी घोर हमें भी। तो बन्द हो कर दी गयी।

इन दिनों साहित्य का बाजार ठंडा है, राजनीति का गर्म है।
 के साल 'शोख' जगु भी गर्म होती है।

साहित्य में देख रहा हूँ कि नापसन्दगी का दौर चल रहा है।
 करते-करते जब 'भासोपक या विद्वान पाठक' उच्च भाता है, सब
 स्वाद बदलने के लिए नापसन्द करने लगता है। कुछ । ग.
 करता है घोर फिर पसन्द करने लगता है। इतने विशेषांक घोर
 निकल रहे हैं, मगर कोई चीज पसन्द नहीं आ रही है। बड़ी
 सज्जपत्र के साथ लेखक या सम्पादक विशेषांक या सकलन निकालता
 फिर हम इंतज़ार करते हैं कि देखें, कौन क्या कहता है। लगभग
 एक-सी बात कहते हैं—एक भी रचना उच्चकोटि की नहीं है।
 लेखकों की घटिया रचनाएँ संकलित हैं। यह कहना सही भी हो

हैं और यह आदत भी हो सकती है। यह आदत जहाँ तक मुझे याद है, 'धर्मयुग' के 'कथा-दशक' से शुरू हुई। इससे जो हैरानी हिन्दी में पैदा हुई, उससे यह उद्गार हृदय के अंतरतम से निकला—इतनी रचनाओं में एक भी अच्छी नहीं। वस, आदत पड़ गयी। अंतरतम की भी आदत बन जाती है। इससे समीचकों का काम बहुत आसान हो गया। उन्हें संकलन या विशेषांक की खबर भर मिल जाए, वे उसे देखे बिना भी मत दे देंगे—एक भी रचना अच्छी नहीं है, बड़ी निराशा होती है।

अभी 'नई धारा' का समकालीन कहानी विशेषांक कमलेश्वर ने सम्पादित किया है। उस पर दो मत ही मैं अभी तक पढ़ पाया हूँ। ये मत किसी भी विशेषांक पर, किसी भी जमाने में दिये जा सकते हैं। इनकी कोई पकड़ नहीं है।

आजकल शायद रचना-युग नहीं वक्तव्य-युग चल रहा है। मुझे बहुत ज्ञानवर्द्धक और दिलचस्प वक्तव्य पढ़ने को मिल रहे हैं। इसी विशेषांक में लेखकों से सवाल पूछा गया था—क्या तुम अकेलापन अनुभव करते हो? इस सवाल का साधारण आदमी के लिए दूसरा मतलब होता है। उससे पूछो—भैया, क्या तुम अकेले हो? वह कहता है—नहीं, शादी हो गयी। पर यही सवाल लेखक से पूछिए। वह मुँह बन्द करके गम्भीर बनेगा। फिर ज़रा-सी ओंठ खोल कर कहेगा—अकेलापन? हूँ! मैं देखता हूँ.... वगैरह।

'नई धारा' के इस विशेषांक में लेखकों ने इस प्रश्न के जवाब दिये हैं। कुछ ने तो सीधे जवाब दे दिये हैं—हम अकेले नहीं हैं, सबके साथ हैं। कुछ ने मुझे बहुत निराश किया है। मैं उन्हें अकेला मान रहा था, पर वे कहते हैं कि हम अकेले नहीं हैं। कुछ वक्तव्य अपनी पेचीदगी, और अदा के कारण मुझे बहुत अच्छे लगे। एक-दो नमूने पेश करता हूँ।

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना और रघुवीर सहाय एक ही संस्था में, एक ही छत के नीचे, काम करते हैं। वहीं श्रीकांत वर्मा, मनोहरश्याम जोशी वगैरह भी काम करते हैं। अब ज़रा वक्तव्य देखिए—

सर्वेश्वर कहते हैं—‘तब तो यह है कि मैं चारों घोर मुलों, घोर खोंगियों से घिर गया हूँ—उनमे ही लड़ता हूँ, जूझता हूँ, होता हूँ घोर फिर अभी बन जाता हूँ, फिर-फिर मड़ने, जूझने और जित होने के लिए ।’ (पृष्ठ १२६)

घोर रघुवीर सहाय जो सर्वेश्वर के साथ ही काम करते हैं, हैं—‘मैं गधो, घाघे पागलो घोर मक्कारों के लिए जिम्मेदारी करता हूँ—’ (पृष्ठ १२३)

दोनों वस्तुव्यों की घलम-घलम घोर फिर मिला कर पड़िए । चल्प संदर्भ निकलने लगते हैं ।

इसी संदर्भ में केशवचन्द्र वर्मा कहते हैं—‘मगर मुझे एक पाहे जिस किसी को जो भर पीटने का एक सार्वजनिक अधिकार जाए, तो मैं लिखना बिलकुल बन्द करके अपने कटे हुए जीवन से रह सकने की कोशिश कर सकता हूँ ।’

अब मैं आपको बतलाता हूँ कि कोई क्यों लिखता है घोर क्या कि वह न लिखता । संयोग से ‘ज्ञानपीठ पत्रिका’ का ताजा ‘क सामने है घोर उसमें संयोग से सर्वेश्वरदयाल का ही वस्तुव्य है । के शब्दों को सुनें कि ये कविता न लिखते यदि—हिन्दी के भाज के प्थित कवियों, में एक भी ऐसा होता जिसकी कविताओं से कवि का व्यापक जीवन दर्शन मिलता—हिन्दी के गण्यमान्य भालोचको में एक भालोचक ऐसा होता जिसने प्रयोगवादी या नयी कविता के बारे में भी समझदारी की बात कही होती ।—हिन्दी का एक भी जागरूक , ऐसा होता जिसने हिन्दी की वर्तमान विभूतियों की नयी लिखी वाली रचनाओं पर असंतोष न प्रकट किया होता ।

सीधी बात है । किसी दूसरे कवि से पूछो तो वह न जाने क्या झन मरी बातें करता है । मगर सर्वेश्वर की बात सुलभी है । देखा कि एक भी कवि डंग का नहीं है घोर एक भी भालोचक नहीं है । पाठक की है असंतोष । यह देख उन्होंने कहा—मच्छा,

ऐसा है तो मैं ही कविता लिखने लगूँ। अगर दूसरे कोई अच्छे कवि होते और आलोचक भी ठीक होते, तो कविता लिखने की प्रेरणा उन्हें हरगिज नहीं होती। इस वक्तव्य में आगे उन्होंने और भी कारण बताये हैं—जैसे मठाधोशों, राजनेताओं और मक्कार लेखकों के कारण मजबूरी में उन्हें कविता लिखनी पड़ी है। याने सर्वेश्वर को रचना की प्रेरणा बुरे लेखकों, मठाधोशों, बदमाशों से मिली है। मैं सोचता हूँ, हम भी कितने खराब लोग हैं कि बेचारे एक भले आदमी को तंग करके उससे कविता लिखवाते हैं। क्यों नहीं हम लोग थोड़े अच्छे हो जाते कि बेचारे को राहत मिले।

बन्धु, इन दिनों गर्मी का मौसम वक्तव्य पढ़ कर गुज़ार रहा हूँ। इनसे थोड़ी ताज़गी आ जाती है, दिमाग भी साफ़ होता है।

आशा है, आप सानंद है।

सस्नेह,

ह० शं० प०

चौतीस

प्रिय बन्धु,

लगभग ढाई साल बाद फिर चिट्ठी लिख रहा हूँ। आशा है, उधर आंध्र में सब ठीक होगा और हरिजनों को ज़िन्दा जलाने की क्रिया को क़ानूनी रूप मिल गया होगा।

पूछा जा सकता है, फिर चिट्ठी क्यों लिख रहे हो? स्तम्भ को फिर अवतार लेने की ऐसी क्या ज़रूरत पड़ गयी? क्या इन वर्षों में 'धरम की हानि' हो गयी? क्या 'असुर, अधम, अभिमानी' बहुत बढ़ गये।

ऐसा कुछ नहीं हुआ। अभिमान बढ़ा नहीं, टूटा ही है। अपनी हिन्दी के पुराने अभिमानी चंदन लगा कर किसी न किसी देव मन्दिर में प्रभु के सामने खड़े हो गये हैं। नये अभिमानी टाई की गाँठ ठीक करते साहब या

साहबन के कमरे में घुस कर कहते हैं—सर (या मेडम) घाय मानें, पर घाय भकवि हैं। साहब या मेडम उवाच—भगर भकवि मानते हो, तो अपनी तरफ़की के कासबात से भागो। तरफ़की की दरएशास्त जैसी नयी कविता में लिखी जाती है, भकविता से। दोनों में 'भर्य' को लय होती है।

बन्धु, चिट्ठी लिखने का कारण यह है कि इस वक़्त हिन्दी में का मौसम चल रहा है। 'घालोचना' में नामवरसिंह ने लिखा भजेय ने कहा था कि हमें नयी पीढ़ी में संवाद की स्थिति पैदा चाहिए। शब्द की गैद भगर उछली है, तो भन्धी खिलाड़ी उठे हो। देख रहा है, तमाम पत्र-पत्रिकाओं में चतुर खिलाड़ी गैद को लोक रहे हैं। संवाद शुरू भी हो गये हैं 'बुझार में' बाद नामवरसिंह घोर श्रोकाल वर्मा में संवाद बंद हो गया था शुरू हो गया लगता है। नामवरसिंह ने सोचा होगा, भव हुआ गया, इसलिए बात हो सकती है। श्रोकाल ने सोचा होगा, बीमारियाँ बूढ़ना बंद कर दिया है तो बात हो सकती है। धर्मवीर घोर नामवरसिंह का जो संवाद चला, सो भापने पढ़ हो लिया कमलेश्वर के एक तरफ़ साधारण प्रेत बोलते हैं और दूसरी तरफ़ प्रेत। बेचारे को दोनों तरह के प्रेतों से 'संवाद' करना पड़ता है। तरह के प्रेत कमलेश्वर से कहते हैं—प्रेत तुम भी हो। ऊर्क यह है कि हम बबूल पर बैठे हैं तो तुम पीपल पर।

संवाद इतने होने लगे हैं कि हिन्दी में संविद बनने की बढ़ गयी है। पिछले चुनाव के वक़्त दलों में संवाद होने लगे थे, तो जगह संविद बन गयी थी। संविद बनना कोई बुरा नहीं है। पर दल-बदल होता है और घातः अल्पमत को सरकार बन जाती है। है हिन्दी में कहीं अल्पमत की सरकार न बन जाए। जो भगवान मंजूर होगा, वही होगा। मैंने तो यह सोचा कि इस सुहावने मौसम में हमारा-भापका संवाद भी क्यों न हो जाए। और मैं

लिखने बैठ गया। संवाद जरूर चाहिए। पर इसके सम्बन्ध में तीन प्रश्न एकदम उठते हैं—संवाद कैसे होगा? क्या होगा? किस भाषा में होगा? संवाद होने के लिए मुँह आमने-सामने होने चाहिए। आपको याद होगा, १०-१२ साल पहले 'कल्पना' में अज्ञेय की एक कविता छपी थी, जिसका सार था तू मेरे पीछे-पीछे मेरे पगचिह्नों पर पाँव रखता, मुझे मुँह भर-भर गाली देता हुआ चला आ। मेरी तो तुझे पीठ ही दिखेगी क्योंकि मैं तुमसे आगे हूँ। इस स्थिति में संवाद नहीं हो सकता। पीठ और मुँह में बोलचाल कैसे होगी? तभी से इंतजार हो रहा था कि कभी पीठ में जीभ निकलेगी तो बात करेंगे। आगे वाली पीढ़ी की पीठ में जब जीभ निकल आती है, तब संवाद होने लगता है। देर चाहे लगे, पर पीठ में जीभ निकलती जरूर है। लगता है, हाल ही में जीभ किसी मजबूरी में निकल आयी है और संवाद की स्थिति पैदा हो गयी है। अगर यही जीभ ६-७ साल पहले निकल आयी होती, तो अब तब ढेर सारी बातचीत हो जाती। मगर जीभ अपना वक़्त लेती है।

दूसरी बात है—संवाद क्या होगा। इधर पड़ोस में दो पीढ़ियों का संवाद महीने में एक-दो बार सुनता हूँ। एक बज़ीफ़ा प्राप्त सज्जन हैं, जिनका बैंक में उत्कोच-अर्जित बहुत पैसा है। उनका जवान लड़का है जो नौकरी करता है। इनमें जब संवाद होता है तो गाली-गलौज होती है। लड़का। बाप से स्कूटर खरीदने के लिए रुपये माँगता है और बाप बेटे को तनख्वाह में से पान-मिगरेट के लिए पैसे माँगता है। दोनों में मिर्क इन मुद्दों पर हो संवाद होता है। साहित्य की दो पीढ़ियों के संवाद की बात उठी, तो मुझे ये पड़ोस के संवादी याद आ गये। कहीं ऐसा तो नहीं है कि यह पीढ़ी उस पीढ़ी की जमा-पूँजी में से स्कूटर के लिए रुपये माँगे और वह पीढ़ी इसमें पान-मिगरेट का खर्च माँगे—और इसी को हम लोग साहित्यिक संवाद कहने लगे।

तीसरी बात है, संवाद की भाषा की। सुन रहा हूँ—यह पीढ़ी की अपनी मुद्रावला मिल गया है। मगर उस पीढ़ी को भी अपना मुद्रावला

मिल गया होगा। भलग-भलग मुहावरों में संवाद कैसे कहेंगे—‘संत्रास’ ! तो वह पीढ़ी कहेंगे—हमारे ‘कोस’ नहीं था। वह पीढ़ी कहेंगे—भारतभान्वेषण, दायित्व ! कहेंगे—इन शब्दों की पढ़ाई २० साल पहले बंद हो गयी

बन्धु, मुहावरा तो खोज लें, लेकिन जिम्मेदार लोग तब न। मैं भी मुहावरा खोजता रहता हूँ। अगर मेरे साथ भी टिक नहीं पाते। एक रचना में मैंने लिखा ‘बलात्कार’। सेठ जी के पत्र ने उसे छापा ‘अपहरण’। बलात्कार को संस्कार बात यह है कि सेठ जी की तरफ से लाइसेंस के लिए सचिवों ने मेट को जाती हैं। उनके पत्र में अगर ‘बलात्कार’ छप जाता, अनैतिक और भद्दी बात हो जाती। दूसरी रचना में मैंने अगर वह छपा ‘लघुशंका’, मैं मजबूरी समझ गया। अगर जाता, तो सेठ जी को शक्कर की बीमारी हो सकती थी। ‘बटोड़’ से बचाने के लिए अगर मेरे मुहावरे का बलिदान हो नहीं।

बन्धु, मुहावरे के इस हथ से डर कर ही कुछ लोग ‘देह नीति’ जैसे मुहावरे प्राइवेट डंग से चला रहे हैं और संवाद भी कारखाने से, प्राइवेट मुद्दों पर, प्राइवेट भाषा में ही ज्यादा हो रहे संबंध में भागे कभी लिखेंगे।

भापका,
ह० शं० प०

